

समरथ



जुलाई-अगस्त 2010 ♦ नई दिल्ली



नाहि तो जनम नसाई

कहां कातिल बदलते हैं, फ़क़त चेहरे बदलते हैं,
अजब अपना सफ़र है, रास्ते भी साथ चलते हैं।

हबीब जालिब ने ये शेर पाकिस्तान के संदर्भ में लिखा था। एक के बाद एक शासक आए लेकिन समाज में कुछ बदलाव न आया। मार्शल लॉ के बाद मार्शल लॉ कभी जनरल अय्यूब तो कभी याहिया ख़ान, टिक्का ख़ान तो कभी जियाउल हक़। ऐसा ही कुछ हाल अपने देश में भी रहा है, बस वो वर्दियां नहीं दिखीं जो पाकिस्तान कि सत्ता में हमेशा नज़र आती रहीं। इंदिरा गांधी के शासनकाल में नागार्जुन ने एक कविता लिखी 'अब तो बन्द करो हे देवी, यह चुनाव का प्रहसन!' इस कविता पर नज़र डालें तो ये प्रहसन अभी भी यू.पी.ए. चेरपरसन सोनिया गांधी के नेतृत्व में चल रहा है। जैसे पाकिस्तान में हर नाम के पहले जनरल जुड़ा होता था बस चेहरे बदलते थे; उसी तरह चेहरा यहां भी बदला है, नाम के पहले जनरल की जगह नाम के बाद गांधी आ गया है। आश्चर्य की बात है कि 1972 में लिखी गई इस कविता में जो स्थितियां रेखांकित की गई हैं लगभग वही स्थितियां 38-40 साल गुज़रने के बाद भी चारों तरफ नज़र आती हैं। और पैतरे भी वही हैं जो 1972 में इंदिरा गांधी दिखा रही थीं। उस समय वो भारत भाग्य विधाता बनी हुई थीं और आज सोनिया गांधी की वही स्थिति है। इंदिरा गांधी उस समय प्रधानमंत्री का पद खुद संभाल रही थीं लेकिन सोनिया गांधी 'ओरिजनल' गांधी के नाम को आंशिक रूप से ही सही सार्थक करने का प्रयास कर रही हैं। प्रधानमंत्री का पद उन्होंने नहीं संभाला लेकिन जिस तरह गांधीजी ने कभी कोई पद संभाले बिना आज़ादी से पहले किसी कांग्रेसी नेता की मर्ज़ी चलने नहीं दी; उसी तरह सोनिया गांधी भी अपने नाम का झंडा फहराये हुए हैं और प्रधानमंत्री महामहिम मनमोहन सिंह जो संभवतः किसी पंचायत का चुनाव भी जीतने की स्थिति में न हों और इतने लंबे समय तक प्रधानमंत्री बने रहने का मौक़ा मिले तो कुछ भी करवा लीजिए। सुख ही सुख है। और वैसे भी महामहिम एक तरफ अपने आका अमेरिका के सामने जय हो, जय हो का नारा लगाते हैं तो दूसरी तरफ स्थानीय आका के समक्ष वो कुछ करना भी चाहें तो क्या कर सकते हैं, और इसकी ज़रूरत भी क्या है। देश राम भरोसे 1972 में भी चल रहा था और आज भी चल रहा है। आइये एक नज़र नागार्जुन की कविता पर डालें और देखें कि जो कुछ 1972 में इस कविता में कहा गया उसमें और आज में कितनी समानता है।

अब तो बंद करो हे देवी, यह चुनाव का प्रहसन !

कीर्ति-पताका फहराती है किस प्रकार अंबर में
लोल लहरियों पर सवार हो जन-मन के सागर में
देवि, तुम्हारे स्वर सुरभित हैं युग के आह्वानों से
तरुण तुर्क रुद्राक्ष की तरह लटक रहे कानों से

प्रतिपक्षी भी सुस्त पड़ गए, जाने क्या है कारण
निर्वाचित प्रभु पूजा करते, गुण गाते हैं चारण
संविधान की रुई रुपहली भद्रलोक धुनते हैं
देवि, तुम्हारे स्टेनगनों से तरुण मुंड भुनते हैं

स्वाद मिला असली सत्ता का, क्यों न मचाएँ शोर
पूँछ उठाकर नाच रहे हैं लोकसभाई मोर
तुम उनकी रानी-अधिरानी, निर्मम निठुर कठोर
गीदड़-भालू, शेर-साँप सब तो हैं मुग्ध विभोर

बड़े-बड़ों का पानी तुमने कैसे दिया उतार
वीराने में ठूँठ मुखर हैं, सुन लो जै-जैकार
बहुत प्रबल हैं, भाग्य तुम्हारे ग्रह हैं परम उदार
तंत्र, मंत्र, ज्योतिष, ओझाई सभी हुए बेकार

भौंचक तुम्हें निहार रहे हैं दुनिया के नटनागर
अजी देख लो, झुका हिमालय, सूखे सातों सागर
देवि, तुम्हारी खातिर खिलती दिन में रजनीगंधा
सिंह चकित है, महिषासुर ने झुका दिया है कंधा

अधभूखे-अधनंगे डोलें हरिजन-गिरिजन वन में
खुद तो चिकनी रेशम डाटे उड़ती फिरो गगन में
महँगाई की सूपनखा को कैसे पाल रही हो
शासन का गोबर जनता के मथे डाल रही हो

सोशललिज्म की नई ऋचाएँ आजीवन चबलाएँ
हम तो माई, सहज दास हैं, तुम पै बलि-बलि जाएँ
तुम देवी दस बाँहोंवाली, हम हैं बकरे बलि के
आज नहीं तो कल निश्चय ही भोग चढ़ेंगे कलि के

मध्यवर्ग की दुम हैं हम, तुम उच्चवर्ग की दुम हो
जिसका रस औषध बनता है, वह निर्गंध कुसुम हो
पग-पग पर तुम लगा रही हो, परिवर्तन के नारे
जन-युग की सतरंगी छलना, तुम जीतीं, हम हारे

आश्वासन की मीठी वाणी भूखों को भरमाती
पाला पड़ता है, लेकिन, वह नंगों को गरमाती
जन-मत को आडंबर प्रिय हैं, प्रिय हैं उसको नाटक
खोल दिये हैं तुमने कैसे इंद्रसभा के फाटक

महंगाई की सूपनखा के दाँत हो गए पैने
चमके चिकने ध्वज-पटलों पर महाकाल के डैने
मधुर-मदिर भ्रम हमें मुबारक, तुम्हें मुबारक सपने
देवि, सँभालो, यहाँ-वहाँ नव सामंतो को अपने

लाभ-लोभ के असुर भद्र वेशों में घूम रहे हैं
तुम पर अर्पित फूलों की पंखड़ियाँ चूम रहे हैं
फेनिल लहरों के रंजित छत्रों पर आसन मारे
गिनती जाओ कल्पित सूरज, कल्पित चाँद-सितारे

नील कमल कानन में होती रहे अनल की वृष्टि
जंगखोर थैलीशाहों की बनी रहे शुभ दृष्टि
शत-सहस्र लंका-पुत्रों के कटे शिरों की माल
बिना झिझक, अपनी ग्रीवा में ली है तुमने डाल

अपनी गर्दन आप काट लो, करो प्रणति साष्टांग
द्रवित न होंगे किंचित भी तुम पर पिशाच गौरांग
अभी और भी पैने होंगे अपने भी तो दाँत
डायन के गुर जान गई हो, चबा रही हो आँत

कार्तूसों की माला होगी, होगा दृश्य अनूप
हथगोला-पिस्तौल-स्टेनगन सज्जित चंडीरूप
अब की अष्टभूजा का होगा खाकीवाला भेष
श्लोकों में गूँजेंगे अबकी फौजी अध्यादेश

कंकालों की मालाओं के सौ-सौ बंदनवार
कहाँ नहीं हैं सज्जित-शोभित ग्राम-नगर-पथ द्वार
देवि, दशभुजे! चालू हैं दैनंदिन गगन-विहार
ब्रह्म-विष्णु-महेश सभी हैं स्वागत हित तैयार

मत-पत्रों से भरी पेटियाँ नभ में नाच रही हैं
बंदूकें उनकी सहेलियाँ, जो हाँ साथ वही हैं
उड़ते-हिलते फुर्तीले कर ठप्पे मार रहे हैं
मौसम चुप हैं, पीले पत्ते सोच-विचार रहे हैं

ताजे-टटके मतपत्रों पर जमे लहू के दाग
बैलट की जादुई पेटियाँ लील रही हैं आग
कंकालों से महाजनों की करनी है रखवाली
और अधिक लंबी हो आई जीभ, चकित है काली

नोटों की गड़्डियों-लाठियों-बंदूकों की जय हो
बोगस मतपत्रों से बोझिल संदूकों की जय हो
गोमुख व्याघ्र बने फिरते हैं, दुनिया को छलते हैं
देवि, तुम्हारी छत्र-छाँह में चंड-मुंड पलते हैं

मतवाले पंडों की थिरकन, देख रहा हूँ गुमसुम
भक्तों-पुजारियों की पुलकन, देख रहा हूँ गुमसुम
सौध-सौध पर दीपावलियाँ, देख रहा हूँ गुमसुम
संगीनों में गुम्फित कलियाँ, देख रहा हूँ गुमसुम

तानाशाही रंगमंच पर प्रजातंत्र का अभिनय
देख रहा हूँ हिंसा का ही मैं असत्य से परिणय
सुनता हूँ, वे चीख रहे हैं, देवि तुम्हारी जय-जय
देख रहा हूँ, सभी लुटेरे घूम रहे हैं निर्भय

शत-सहस्र छापेमारों का पता नहीं चलता है
कारों के जमघट में रिकशा कुदता है, जलता है
चुसा-पिसा-निचुड़ा है जन-जन, शक है, युग छलता है
नया राष्ट्र है, नौकरशाही के हाथों पलता है

अभी और भी विप्लव होंगे और बहेगा खून
तरुण शक्ति तोड़ेगी सौ-सौ 'नियम और कानून'
महाक्रांति के प्रबल वह्न में शोधित होगी सत्ता
अरुणाई में दमक उठेंगे ढाका और कलकत्ता

साभार : नागार्जुन रचनावली भाग-2

आजादी की छांव में

■ बेगम अनीस किदवई

फिर सितंबर आ गया। हिंदुस्तान को आजाद हुए अभी पंद्रह दिन न बीते थे कि दिल्ली में मार-धाड़ शुरू हो गई। मकानों, दुकानों और गली-कूचों में लहराते हुए तिरंगे झंडे अभी मैले भी न होने पाए थे कि उन पर खून की छींटें पड़ने लगीं। गड़बड़ी, बदअमनी, दंगे-फसादों का एक सैलाब था जो पंजाब से चला आ रहा था। उसमें दिल्ली, मसूरी और देहरादून सब गर्क हो गए थे। कहते हैं एक बार महफिल में हिंदू-मुस्लिम फसाद का जिक्र हो रहा था। किसी ने कहा फसादों की गंगा तो सारे हिंदुस्तान में बह रही है। बापू हंसे और बोले - मगर उसकी गंगोत्तरी तो पंजाब में है। और सचमुच गंगोत्तरी वहीं से निकली।

टेलीफोन गायब, डाक बंद, रेलें बंद, पुल टूटे हुए और इंसान थे कि कीड़े-मकोड़ों की तरह सड़कों पर, गलियों और मैदानों में रेंग रहे थे, मर रहे थे, कुचले जा रहे थे, लूटे जा रहे थे। लेकिन भगदड़ थी कि खुदा की पनाह! इधर से उधर खुदा की बेआवाज़ लाठी उनको हंका रही थी। मार-काट का इतना बड़ा तूफान शायद ही कभी हिंदुस्तान के इतिहास में आया हो। सुनती हो। सुनती हूं बख्ते-नसर¹ यरूशलम की आबादी को गुलाम बनाकर बाबुल ले गया था। हजरत मूसा चालीस हजार यहूदियों को लेकर मिस्र से निकल गए थे। करताजना वाले जिस मुल्क को फतह करते थे उसके बाशिंदों को गुलाम बनाकर ले जाते थे और उनसे ईंटें पथवाते थे। हिंदुस्तान में भी महाभारत जैसी बड़ी जंग हुई और फिर नादिरशाह ने भी तीन दिन दिल्ली में कल्लेआम किया था।

मगर ये तो सब पुरानी कहानियां थीं। तब तो एक सूबा और एक जिला भी मुल्क कहलाता था। कितना ही जुल्म होता, दस-बीस हजार से ज्यादा आदमी न मरते होंगे। लेकिन यह जो कुछ हमारी आंखों के सामने हुआ है, दुनिया के शुरू से आज तक कहीं नहीं हुआ होगा।

लखनऊ में औरतें, मर्द, बच्चे, रोते-बिलखते मेरे पास आते थे कि दिल्ली टेलीफोन करके हमारे अजीजों की खैर-खैरियत की खबर मंगा दें। खुदा के लिए मसूरी से हमारे घरवालों के निकालने का बंदोबस्त करा दें। देहरादून में अगर कोई जिंदा बचा है तो अल्लाह के लिए उसका पता मंगा दें। और मैं भाई साहब को खत लिखते-लिखते और टेलीफोन कर-करके हैरान कर देती थी।

मेरी आदत थी कि सुबह सवेरे नमाज के बाद ला मार्टिनेयर रोड के साथ-साथ मील-दो-मील का चक्कर लगाया करती थी। मैं हमेशा अकेली जाया करती थी, भला इतने सवेरे कोई क्यों मेरा साथ देती? फिर न कोई डर था न खौफ। लेकिन सितंबर शुरू होते ही फजा बोझिल होनी शुरू हो गई। चार-चार, पांच-पांच आदमी इकट्ठे पंजाब और हिंदुस्तान की सियासत पर बहस करते हुए पास से गुजर जाते। उनमें वकील, प्रोफेसर, किसान, विद्यार्थी सभी होते थे। कभी-कभार गरमा-गरम बहस होती और कभी-कभी उस पर दुख का इज़हार करने वाले भी मिलते। हालात की यह तब्दीली क्षितिज के धूल से भरे होने का पता दे रही थी।

फिर एक दिन चहलकदमी करने वालों के हाथों में छड़ियां, डंडे और छाते देखकर और लोगों के बदले हुए तेवर और गजबनाक बातें सुनकर मैंने भी महसूस कर लिया कि वाकई लखनऊ का अमन-चैन भी दरहम-बरहम² हो रहा है। घरवाले पहले ही से मना करते थे, लेकिन मैं सुनी-अनसुनी कर दिया करती थी। अब यह रंग देखकर मुझे सैर बंद कर देनी पड़ी।

शहर में अमन कमेटियां बन गई थीं। जगह-जगह मर्दों और औरतों के जलसे हो रहे थे। मिली-जुली दावतें हो रहीं थीं। तमाम मकामी³ बाशिंदों की कोशिश यह थी कि लखनऊ में कोई फसाद न होने पाए और यहां का अमन कायम रहे। शुक्र है, वे अपने मकसद और इरादे में कामयाब रहे। हिंदु-मुसलमानों की मिल-जुलकर की गई कोशिशें रंग लाईं और लखनऊ ने अपनी तहजीब और शायस्तगी की लाज रख ली। लेकिन घर के अंदर जो खबरें आ रही थीं वही दिल का सुकून छिनने को क्या कम थीं? दिन तड़प-तड़पकर और रातें टहल-टहलकर गुजरने लगीं। दिल्ली के रिश्तेदारों की फिक्र इसलिए कुछ कम थी कि वहां कुछ-न-कुछ तो हिफाजत का बंदोबस्त है। मगर मसूरी की फिक्रों ने रातों की नींद हराम कर रखी थी। यह यकीन था कि शफी साहब⁴ अपनी रिवायती⁵ जिद की बंदौलत मसूरी से निकलना पसंद न करेंगे। यह अहसास की उनको जबरन मसूरी छोड़ने पर मजबूर किया जा रहा है उन्हें और भी मुस्तकिल⁶ कर देगा।

और फिर उसी वक्त जैसा कि उनके खतों से अंदाज़ा होता था, वे मजलूमों की जानतोड़ मदद कर रहे थे, ऐसी हालत में तो हरगिज आने के लिए नहीं तैयार होंगे।

लेकिन घरवालों की कोशिशें जारी थीं, भाई परेशान थे। उधर सरकारी कामों के सिलसिले में उनका 21 सितंबर को लखनऊ पहुंचना जरूरी थी। मगर जल्द ही खत आ गया कि अब मैं 21 सितंबर को न पहुंच सकूंगा, इसलिए तारीख बढ़ा दी जाए। और फिर वे तारीखें बढ़ती ही रहीं। वे देहरादून के फसाद में अपने कुछ रिश्तेदारों, दोस्तों और नौकरों के लिए बहुत परेशान रहे। लेकिन जब मसूरी में भी बलवा हो गया तो बिल्कुल मुतमइन⁷ थे... “मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसां हो गईं।” अपनी हालत न लिखते और जमाने भर की खैरियत पूछ डालते। एक दिन लिखा कि मुझे बड़ी लड़की⁸ की बहुत याद आ रही है, उसका पता लिखो तो खत लिखूं। और फिर लिखा भी। मेरी तंदुरुस्ती, बच्चों की खैरियत, दूसरों का हाल सब इस तरह पूछते जैसे खतरे में हम सब लोग हैं और वे खुद महफूज हैं।

अलबत्ता एक दिन जो खत आया उसमें वहां की सारी दास्तान थी। लिखा था: “मैं अपने आफिस⁹ में बैठा हुआ तुम्हें खत लिख रहा हूं और नीचे से भीड़ का शोर, बंदूकों के फायर और मुसीबतजदों की चीख-पुकार की आवाजें आ रही हैं। घर जल रहे हैं। दुकानें लूटी जा रही हैं और पुलिस तमाशा देख रही है। दिन-दहाड़े यह सब कुछ हो रहा है।”

फिर दूसरा खत आया कि आफिस मैंने बंद कर दिया है। तीन दिन से घर पर हूं। बारिश सख्त हो रही है। बेचारे घोड़े-खच्चर वाले तक हमलावरों की दरिंदगी से नहीं बच सके। जमादारों से उनकी लाशों पर मैंने घास-फूस डलवा दी है।

और अगला खत हंगामे के बाद का था। उन घटनाओं ने उनका दिल तोड़ दिया था। लिखा था, “मैंने सन् 1921 से लेकर अब तक तरह-तरह के दौर देखे हैं। हिंदू-मुस्लिम एकता का वह जमाना भी देखा जिससे दिल को खुशी और ताकत मिलती थी और कांग्रेस के वक्त-बेवक्त आंदोलनों में बरतानवी हुकूमत के जुल्म भी देखे। सन् 1942 का हंगामा उठाने वाला दौर और आजादी हासिल करने का जोश-खरोश भी देखा। और फिर इलेक्शन के दिनों में मुस्लिम लीग का आपे से बाहर होना भी देखता रहा। अब अक्सरियत¹⁰ की यह खुदी¹¹ और दिमाग की खराबी भी देख रहा हूं। सब दिन गुजर गए, ये भी गुजर जाएंगे। मगर हुक्काम¹² की यह बेहिसी¹³ और जानिबदारी¹⁴ यादी रहेगी।”

27 सितंबर के खत में लिखा था, “तार की लाइन टूटी हुई है। एक तार गवर्नमेंट का 17 को चला हुआ 24 सितंबर को यहां पहुंचा तो दूसरा 21 को चला हुआ 22 सितंबर को मसूरी पहुंचा था। टेलीफोन दिल्ली के लिए मिलता ही नहीं। आज चार-पाच दिन हुए मुझे ख्याल हुआ था कि यहां की हालत

का कुछ तजकिरा पंतजी¹⁵ से कर दूं मगर लखनऊ के लिए लाइन ही न मिली। अब तो तार, टेलीफोन सब बेकार हैं।”

ऑफिस जाते हुए अक्सर रास्ते में लाशें पड़ी मिलती। उनको नहलाने, कफन में लपेटने और दफन करने वाला वहां कौन बैठा था? मसूरी की सड़कों पर चलने वाले अकेले मुसलमान तो वे खुद ही थे...। लाशें घसीटने के लिए उनके पास सिर्फ जमादार थे। वही यह रस्म पूरी करते कि लाशों को खड्ड में डालकर, उन पर मिट्टी-पत्थर या कूड़ा फेंक देते ताकि चीलों और गिद्धों के हमले से निजात मिले। खड्ड में सड़ी हुई लाशों पर कूड़े-करकट के ढेर डलवाकर शहर की हवा को साफ रखना भी तो उन्हीं का काम था। किसी म्यूनिसीपैलिटी के एडमिनिस्ट्रेटर को शायद कभी ऐसी ज़िम्मेदारियों से वास्ता पड़ा हो।

और जब यह सोचती हूं तो दिल चाहता है खुदकुशी कर लूं। ये सारे काम उनको अकेले ही करने पड़े, मैं तो इत्मीनान से लखनऊ¹⁶ में बैठी थी। घबराकर एक दिन मसूरी जाने के इरादे से किसी को खबर किए बिना घर से निकल खड़ी हुई। नजर बाग तक पहुंची थी कि छोटे भाई जाकर पकड़ लाए। मेरी ज़िंदगी की उन्हें बड़ी फिर थी। “नहीं, आप न जाइए। कोई रेल सलामत पहुंचती ही नहीं है। अभी नहीं, फिर कभी चली जाना।” काश, मैं उसी दिन चली गई होती।

मगर वह लिखते थे, “मेरी तरफ से इत्मीनान रखो। बारिश की वजह से एक दिन के सिवा बराबर दफ्तर जाता रहा हूं।” हालांकि दफ्तर के मुस्लिम मुलाजिम कैंप में थे। हिंदू आना जरूरी न समझते थे, मगर वह अपनी धुन के पक्के थे। फसाद के खत्म होते ही आफिस खोलना जरूरी समझा और जाने लगे। कुछ इमदादी कामों के सिलसिले में भी दफ्तर खोलना जरूरी हो गया। 28 सितंबर को एक लंबा खत भाई के नाम और दूसरा एक दोस्त के नाम लिखा। दोनों का मजमून मिलता-जुलता था। वह लंबा खत भाई की गलती से जाया¹⁷ हो गया। शफी साहब की शहादत के चंद दिनों बाद तहकीकात के सिलसिले में किसी ने पूछा और भाई ने वह खत उठाकर जिला मजिस्ट्रेट को भेज दिया। उसके बाद वह खत हमें वापस नहीं मिला और न जाने क्यों खत देखने के बाद हादसे की तहकीकात भी डिप्टी कमिश्नर को मुलतवी कर देनी पड़ी। क्यों? इस पर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ही रोशनी डाल सकते हैं। लेकिन दोस्त के नाम जो खत था वह हमारे सामने है, उसमें लिखा था,

“मैं बराबर आफिस जाता हूं। लोग एहतियात के खिलाफ समझते हैं, मगर मेरा ख्याल है, खौफ को अपने ऊपर हावी होने देता तो अब तक कोई वाकिया¹⁸ हो चुका होता। और इस ‘वाकिए’ की ख्वाहिश बहुतों को होगी।”

दूसरे खत में था: “मेरे सब मुसलमान अहलकार¹⁹ कैप में हैं। उनकी तनखाह का रुपया पहुंचाना और उनको जिंदा रखने के लिए रुपयों का इतिजाम करना है। मैंने कह दिया है जब तक हिफाजत से लाने-ले जाने का इतिजाम न हो जाए उन्हें छुट्टी पर ही समझा जाए। उनको मौजूदा मुसीबत के लिए तनखाह के अलावा प्रोविडेंट फंड से भी रुपया दिया जाए...। एजुकेशन सुपरिटेण्डेंट एक कांग्रेसी है वे इस वक्त बहुत काम कर रहे हैं और इमदाद भी करते हैं।

“जब तक मेरी जान में जान है, मैं खिदमत करूंगा। जो जुल्म उन पर हो रहा है मुझे उससे बहुत तकलीफ पहुंची है।”

पहली अक्टूबर को पांच दिन से न कोई ट्रेन देहरादून पहुंची, न वहां से गई थी। मोटर लारियों का आना-जाना भी बंद था और उन्हें अफसोस था। लिखते हैं :

“रेडियो से खबरें वगैरा सुन लिया करता था। उसने भी तीन दिन से साथ छोड़ दिया है।” ऐसा क्यों था? वजह न मालूम हो सकी। पंतजी को टेलीफोन भी न कर सके। दिल्ली में भाई साहब से भी बात न कर सके। और मेरे भाई के और इस दोस्त के तीनों खतों में उन्होंने लिखा :

खुदा को हाजिर-नाजिर जानने के यही मौके होते हैं। मेरे लिए दुआ करो कि दिल में कमजोरी न पैदा हो। “मौत का एक दिन मुअय्यन²⁰ है”, मरना बर हक है, हर शख्स के लिए मौत आनी है, मगर दुआ करो कि खुदा मेरे दिल को मजबूत कर दे और मौत का डर किसी ऐसी बात के करने में रुकावट न बने जिसको मैं करना सही समझता हूं।” एक और जगह लिखते हैं :

“कोई सच्चा दोस्त या हमदर्द इर्द-गिर्द नहीं है। मगर इसके बावजूद खुदा ही हिम्मत रोज बढ़ाता रहे।” 2 अक्टूबर के बाद का कोई खत मुझे नहीं मिला। लिखा जरूर होगा। उन दिनों रोजाना एक खत मेरे लिए डलवाते थे। कोई असंभव नहीं, गायब कर दिया गया हो।

अक्टूबर में रोजाना उन्हें धमकियां दी जा रही थीं कि अगर देहरादून से न गए तो कल्ल कर दिए जाओगे। कहने वाला टेलीफोन से भी धमकियां देता था और खत भी भेजता था। एक खत तो उनके कागजात में भी हमें मिला है।

अजीज हयात खां²¹ साहब जो कैप के पनाह गुजीनों (शरणागतों) में शामिल थे, लिखते हैं कि किदवई साहब रोजाना आफिस जाते और आते हुए हम सबसे मिलने कैप में आया करते थे। हमारी मुश्किलात सुनते और दुख-दर्द दूर करने की कोशिश करते थे। शहादत से एक रोज पहले आए तो कहा, आज मुझको फिर ‘वार्निंग’ मिली है। अजीज साहब ने पूछा, ‘तो फिर क्या इरादा है?’ हंसे और जवाब दिया, “मैं तो हरगिज न जाऊंगा।”

रामपुर हाउस²² की आबादी उस वक्त तीन हजार थी। उसमें कोई आठ सौ कश्मीरी और बालती भी थे। कुछ मजदूर थे, कुछ ठेकेदार वगैरह। उनका हजारों रुपया म्युनिसिपैलिटी के जिम्मे बाकी था। उसी दिन वे सब आकर कदमों पर गिर पड़े कि हमारा रुपया दिलवा दीजिए सो हम वापस वतन चले जाएं। और शफी साहब ने वादा कर दिया कि कल ही दिलवा दूंगा।

लेकिन वह कयामत बरपा²³ करने वाली ‘कल’ जब आई तो कश्मीरी सिर पटक-पटककर रो रहे थे कि हमारी किस्मत फूट गई। और वाकई यही हुआ। वे सब मसूरी से गए मगर मुफलिस, कल्लाश²⁴ भूखों मरने के लिए। इस खबर ने कैप में कुहराम मचा दिया।

शफी साहब उस समय अधिकारियों की लापरवाही या तरफदारी और जनता की गुंडागर्दी दोनों के खिलाफ लड़ रहे थे। सबकी खाहिश थी कि किसी तरह यह रोड़ा रास्ते से हट जाए। इधर वे समझते थे कि उनका फर्ज है मुकाबले पर जमे रहना। बुराई की बड़ी-बड़ी ताकत के सामने सिर न झुकाने का उन्होंने बीड़ा उठा रखा था। आखिर इस कश्मकश में जान से हाथ धोना पड़ा। तोड़फोड़ करने वालों को उनकी गतिविधियां भला कैसे पसंद आ सकती थी। बहुतों को यह भी डर था कि घर का भेदी लंका ढाए। कुछ और थे जो उनको मारकर धर्म के रक्षक बनना चाहते होंगे। कितने दिनों से आ रहे थे। कितनी बार लिख चुके थे। कितनी इच्छा घर आने की थी मगर खुदा को करना कुछ और था। तकदीर पर क्या ज़ोर? देहरादून के दोस्तों का आग्रह, हम सबके खत, घर भर की परेशानियां, कोई भी उस वक्त को न टाल सका जो मुकर्रर हो चुका था।

अब अक्सर यह खयाल आता है कि शायद खुद मैंने ही लखनऊ आने के लिए इसरार नहीं किया। मेरे भाई पहले ही मुझे इलजाम देते थे-अगर जोर देकर लिखो तो जरूर चले आएंगे। मगर तुमको तो जैसे फिक्र ही नहीं है। लेकिन मुझसे ज़्यादा कौन उनके मिज़ाज को जान सकता था! मैं जोर कैसे देती, किस मुंह से इसरार²⁵ करती? अपनी बुज़दिली से उनकी बहादुरी की तुलना करने में तो मुझे खुद शर्म आ रही थी।

खतरे से भागना, विरोध से पीछे हटना, जान-माल या किसी नुकसान के डर से अंतरात्मा के खिलाफ कदम पीछे हटाना उनके स्वभाव के विपरीत था। वह समझते थे हिंदुस्तान उनका घर है, उनका देश है, उनकी जन्मभूमि है। इस धरती पर जिंदा रहने, चलने-फिरने और कारोबार करने का उन्हें भी उतना ही हक हासिल था जितना किसी और को। जो कुछ हो रहा है यह दुश्मनी है, दोस्ती नहीं और मुल्क की बरबादी उनकी अपनी बरबादी है। उन्हें अधिकार है कि अपनी इज्जत और पैदायशी हक के लिए मुकाबला करें, मजलूमों की इमदाद वे कैसे न करते?

जिस बात को वे ठीक समझते हों उसे करने से तो कोई उनको कभी रोक नहीं सका था और मैंने तो कभी ऐसी कोशिश ही नहीं की थी। और अब से कुछ पहले खुद मैं एक बार ये शब्द भी लिख चुकी थी, “मेरा ख्याल है किसी जिम्मेदार आदमी को ऐसे वक्त अपनी जगह से हटना नहीं चाहिए। मुमकिन है उसके हाथों दस गरीबों की जानें बच जाएं या सौ-पचास की रक्षा हो जाए या दूसरों की मुसीबत में वह अपनी शख्सीयत²⁶ के असर से कुछ करा सके।”

लेकिन असलियत यह है कि अब यही जी चाहता था कि खुदा करे वे चले आएँ। न आएँ तो किसी तरह मैं उनके पास पहुंच जाऊँ। जिस आग से वे खेल रहे थे उसी आग में साथ ही जल-मरने की हसरत जी में थी, लेकिन कुछ भी तो न कर सकी।

अंदर-ही-अंदर दुआएं मांगती थी। भाइयों को तार देने या फोन करने से भी मना नहीं करती थी। खुद भी दो-एक बार नहीं, कई बार लिखा : “घर में सब बहुत परेशान हैं और क्योंकि कहीं कि खुद मेरी भी बड़ी ख्वाहिश है, अब लखनऊ आ जाओ तो अच्छा है। लोग मुझे आने नहीं देते हैं, वरना अब तक कब की आ चुकी होती...।”

2 अक्टूबर को उनका जवाब आया। उसमें अपनी लाचारियों का इजहार²⁷ किया था और लिखा था, “अनीस, मुझमें कमजोरी न पैदा करो। मैं यहां से हटूंगा नहीं। हंगामा खत्म होने दो तो मैं इन सबको बतलाऊंगा, वरना जो मुकद्दर में है। बस खुदा से दुआ करो कि वह मुझे साबित कदम²⁸ रखे।”

इस जवाब ने उनकी कद्र मेरे दिल में और बढ़ा दी। वह भाग कर बच सकते थे। बल्कि यह तो उनसे कहा भी जा रहा था। लेकिन गांधीजी की अहिंसा को वे जुल्म और जबर के मुकाबले के लिए सबसे बड़ा हथियार समझते थे और अकेले उस सरजमीन पर ठहरकर उस बर्बरता और अन्याय के खिलाफ आवाज उठाना चाहते थे। मैं उनके पक्के इरादे को कैसे तोड़ सकती थी, जबकि खुद ही उसकी सचाई की कायल हो चुकी थी।

सब कुछ सोचकर दिल को तसल्ली देने की नाकाम कोशिश करती रही। लेकिन वहां तो आग-सी लगी हुई थी। अब यह तो अल्लाह ही जानता है कि उनके अगले चार-पांच दिन किस रूहानी²⁹ कशमकश में गुजरे होंगे। न कोई अपना, न पराया। दुश्मनों का घेरा, धमकी भरे खत और टेलीफोन। तन्हाई और हर पल मौत के कदमों की चाप... मेरे खुदा... मुझे याद आता है कि मैं एक दिन मसूरी में उनके एक शेर पढ़ने पर लड़ रही थी। सुबह-सुबह नहाते समय उन्होंने शेर पढ़ा:

किसी के मुंह से न निकला यह मेरे दफ्न के वक्त

कि इन प' खाक न डालो ये हैं नहाए हुए

इस बदशुगनी पर मुझे बहुत गुस्सा आया। काफी देर तक मैं झगड़ती रही। वे हंसते रहे, मगर इतना किया कि फिर जब तक मैं रही यह शेर नहीं पढ़ा। आज सब कुछ याद आ रहा है, जो न याद करना चाहो वह भी।

देहरादून में मि. खुरशीद लाल³⁰ वगैरह दोस्तों ने खुद ही 8 अक्टूबर के लिए उनकी सीट रिजर्व करवा दी और यह तय हो गया कि अब लखनऊ चले जाएंगे। मगर कुदरत तो कुछ और मुकर्रर कर चुकी थी। 7 अक्टूबर को, यानी उससे एक दिन पहले हमेशा के लिए लखनऊ आना खत्म हो गया। नौ और दस बजे के दरम्यान दफ्तर जाते हुए बहारिस्तान के नीचे शहीद कर दिए गए।

चपरासी साथ था। मारने वाले कौन थे? कहां से आए? वह पुलिसमैन जो दोस्तों ने खुद से कोशिश करके उनकी हिफाजत पर दो रोज से तैनात कर दिया था, घर पर क्यों रुका रहा? ऐसे बहुत से सवालात लोग करते रहे जिनका न हमारे पास कोई जवाब था, न चपरासी के पास। कुछ मालूम ही न हो सका।

और वह पिस्तौल जो आजाद साहब³¹ और खुरशीद लाल साहब के कहने-सुनने से जेब में रख लिया था, बदस्तूर रखा ही रहा।

सन् 1921 से तो मैंने कभी उनको हथियार हाथ में पकड़ते देखा न था। शफी साहब ने कहा भी कि मुझे चलाना तो आता ही नहीं, इसको रखकर क्या करूंगा। उन्होंने चलाना भी सिखा दिया और ताकीद की कि इसको हर वक्त जेब में रखिए। मरते दम तक जेब में रहा जरूर लेकिन निकालने की जरूरत न समझी। उनकी जेब से निकला खून में लिथड़ा पिस्तौल कई माह बाद हमें मिला जो साफ हो चुका था, मगर अब भी उस पर धब्बे बाकी थे। “बेगुनाही की मुहर” उस पर खून से लगा दी गई थी :

जिंदगानी की हकीकत कोहकन के दिल से पूछ

जू-ए शीर-ओ-तेश : ए-संग-ए-गरां है जिंदगी³²

और अपनी जिंदगी का संग-ए-गरां उतार फेंकने के बाद वह यकीनन बहुत खुश होंगे। उन्होंने बेहद परेशानी और तंगहाली की जिंदगी बसर की। मुश्किल से आमदनी का बीसवां हिस्सा उन पर खर्च होता था इसलिए कि दूसरे ज्यादा से ज्यादा आराम से रह सकें। सुबह से लेकर शाम तक हर छोटे-बड़े मामले में वह अपने पर दूसरों की जरूरत, ख्वाहिश और अहमियत को तरजीह देते थे।

और जब यह सब कुछ हो गया तो दिल के टुकड़े उड़ गए। एक बार तो बदले की आग ने मेरे दिल-दिमाग को फूंक

ही डाला था, मगर कुछ ही देर बाद मैंने अपने ऊपर काबू पा लिया।

जहां हजारों इंसान मारे गए, वहां यह भी सही। तसल्ली के लिए यह भी तो काफी है कि बेगुनाह शहीद हुए, किसी को मारा नहीं, किसी पर जुल्म नहीं किया। किसी को तबाह नहीं किया। खुदा और उसकी मखलूक³³ की जो मांग थी उसे पूरा किया, इंसानियत का जो हक था वह अदा किया।

एक साहब कहने लगे, “आप लोगों की तरफ से न तहकीकात की कोई मांग हुई, न मुजरिमों की तलाश और सजा के लिए कोशिश की गई।” मैं भला इसका क्या जवाब देती। मेरी कोई ख्वाहिश ही बाकी न थी। खोई चीज हमें मिल नहीं सकती। कमान से छूटा हुआ तीर वापस नहीं आ सकता। दिल पर लगा हुआ जख्म अब नासूर ही बनकर रहेगा और इस वीराने में अब रहती दुनिया तक बहार आने की नहीं।

कातिल को पकड़वा कर मैं क्यों उसकी औरत को बेवा करूं? क्यों उसके बच्चों को यतीम बनाऊं? शायद उसकी मां हो तो उसके तड़पने का सामान मेरे हाथों क्यों हो? खुदा ही पर क्यों न छोड़ दूं? वह तो सबको जजा और सजा देने वाला है, यह फैसला उसी को क्यों न सौंप दूं? और फिर मैं क्या जानूं वह है कौन? फिर यह बात भी है कि तहकीकात कराना, सजा देना गवर्नमेंट का काम है। आखिर कानून और हुकूमत को किसी काम की जांच-पड़ताल के लिए हमारी सलाह और इजाजत की जरूरत ही क्यों?

जो मुझ पर पड़ी है वह कुछ नई नहीं है। और भी हजारों-लाखों इस मुसीबत में गिरफ्तार हैं। सब्र और सुकून की खातिर मैंने किस-किस तरह अपने आपको समझाया, कैसे-कैसे

मतलब निकाले और कितनी दुआएं खुदा से मांगी कि ऐं खुदा, जिस साबितकदमी की दुआ शफी साहब मांग कर रहे थे वह अब मुझको अता³⁴ कर दे।

एक हफ्ता तो खैर इस आलम में रही कि अपनी भी खबर न मिली। लेकिन कहां तक! जिंदा थी और दुनिया की नज़र में भी मुझे जिंदा इंसानों की तरह रहना था। इसलिए अपने होश-हवास जमा करने शुरू कर दिए। आहिस्ता-आहिस्ता चार दिन सोचकर मैंने एक राय कायम कर ली कि अगर मसूरी नहीं जा सकती थी तो न सही, अब दिल्ली पहुंच कर अपने आपको दुखों के उस सागर में डुबो दूं जिसमें गर्क हो रही है। वहां गांधीजी हैं और उनकी अमनी रूहानियत³⁵।

दिल्ली, जिसका हर गली-कूचा अतीत की खुली हुई किताब है, जो बीसियों बार आबाद हुई, इतनी ही बार उजड़ी और उजाड़ी गई लेकिन हर मरतबा फिर बसी। कभी गैरों के हाथों लुटी, कभी अपनों ने नोचा-खसोटा। कभी मेहमानों ने इसकी दुर्गत बनाई और कभी घरवालों ने।

इतिहास की इस पुरानी किताब में 5 सितंबर, 1947 से एक नया खूनी अध्याय जुड़ गया है। मैं यहां इस कहानी को पढ़ने के लिए नहीं उस तूफानी समुद्र में अपनी जिंदगी के सबसे बड़े गम को गर्क करने के लिए आई थी कि शायद इसी में भविष्य का कोई ओर-छोर मिल जाए।

जब किश्ती साबित सालिम³⁶ थी साहिल³⁷ की तमन्ना³⁸ किसको थी।

अब ऐसी शिकस्ता³⁹ किश्ती पर साहिल की तमन्ना कौन करे।

साभार : आजादी की छांव में

1. ईरान का एक बादशाह, 2. छिन्न-भिन्न, 3. स्थानीय, 4. शफी अहमद किदवई, लेखिका के पति-अनु, 5. परंपरागत, 6. पक्का, 7. बेफिक्र, 8. लड़की अपने पति के साथ थी। शफी अहमद किदवई, जो उन दिनों मसूरी के एडमिनिस्ट्रेटर थे, रफी साहब से दो साल छोटे और उनकी सरगर्मियों में सन् 1922 में एक साल जेल में भी रह चुके थे। सन् 1921 में नौकरी से इस्तीफा देकर आजादी की तहरीक में शामिल हुए। सन् 1946 में गौंडा से असेंबली का चुनाव लड़े, 9. आफिस कलक्टर बाजार से ऊपर एक पहाड़ी पर स्थित था, 10. बहुसंख्यक, 11. अहं, 12. अधिकारीगण, 13. संवेदनहीनता, 14. पक्षपात, 15. उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री गोविंद वल्लभपंत, 16. उन दिनों रफी भाई के वालिद इम्तियाज अली साहब सख्त बीमार थे और बिस्तर पर पड़े थे, मैं उनकी सेवा-टहल के लिए लखनऊ आई हुई थी, 17. नष्ट, 18. घटना, 19. कार्यकर्ता, 20. निश्चित (गालिब के शेर की एक पंक्ति, 21. शौकत हयात खां के बेटे या भतीजे थे और इकबाल मुशीर किदवई के दामाद, 22. रामपुर हाउस में मुस्लिम पनाहगुजीनों (शरणार्थियों) को रखा गया था, 23. प्रलयकारी, 24. गरीब-गुरबे, 25. आग्रह, 26. व्यक्तित्व, 27. प्रकट, 28. अडिग, 29. मानसिक, 30. देहरादून कांग्रेस समिति के अध्यक्ष और मशहूर वकील। बाद में रफी साहब के साथ उपमंत्री भी बने। फिर पाकिस्तान उच्चायुक्त होकर जा रहे थे कि शायद एक हफ्ता पहले स्वर्गवास हो गया, 31. मि. आज़ाद मसूरी के कलक्टर थे, 32. जीवन की वास्तविकता फरहाद के दिल से पूछ। यह दूध की नदी खोद निकालने और भारी पत्थर तोड़ने जैसा कठिन होता है, 33. बदे, 34. देना, 35. नेकी और अच्छाई का व्यावहारिक रूप, 36. ठीक-ठाक, 37. किनारा, 38. इच्छा, 39. टूटी-फूटी।

संस्कृति और सांप्रदायिकता

■ हबीब तनवीर

दोस्तों 'संस्कृति और सांप्रदायिकता' - इस टाइटल में मैं थोड़ा तरमीम कर दूँ-संस्कृति और धर्म। इस तरह अगरचे सोचें, तो हमारे जितने भी धार्मिक संस्कार हैं वो हमारी संस्कृति भी हैं।

संस्कृति का धर्म से बहुत गहरा ताल्लुक है। और हमारा कोई संस्कार ऐसा नहीं है, कल्चर का कोई भी शोबा, जिसमें कहीं न कहीं धर्म का कोई ताल्लुक न हो। जितनी रवायतें हैं, जितनी हमारी परम्परा है, वो सब इससे जुड़ी हुई हैं। मुहर्रम, ईद, बकराईद, शब्बेरात की पूरनपोली जो हिन्दुओं में बंटती और दीवाली की मिठाई जो हम तक आती रही है हमेशा, और अब भी आती है। हमारी परम्परा रामलीला की, जिसमें रामलीला के मुखौटे जो मुसलमान बनाते हैं, वही मुहर्रम के ताज़िये भी बनाते हैं- वो सब हमारे कल्चर से जुड़े हुए हैं। करबला का किस्सा अनीस और दबीर की ज़बान से आप सुनते और वो लोग जहां करबला का वाक्या हुआ था। हसन, हुसैन की मौत हुई थी। एक को ज़हर दिया गया था और दूसरे को प्यासा मार दिया गया था, सारे खानदान को खत्म कर दिया। तो वो एक रौंगटे खड़े कर देने वाले निज़ाम फ़ासियत से भरा हुआ, बेरहमी से भरा हुआ वो था। उसके मरसिए जब अनीस और दबीर और दूसरों ने लिखे तो एहतशाम हुसैन ने अपनी तैहकीक़ से उस पर तनकीद लिखी, उसकी आलोचना लिखी तो उन्होंने कहा कि जितने हिन्दू संस्कार हैं वो इसके अंदर आ गए हैं। फ़ातिमा का बैन करना अब्बास की मौत पे, या बच्चों, या ज़ैनब की मौत पे-उन सब के अन्दर वो तमाम तरीके बैन के मौजूद हैं, जिनका ताल्लुक हिन्दुस्तान की ज़मीन से हैं। वहां जहां पे कर्बला हुआ था वहां पैशन प्ले की शक्ल में मुहर्रम के ज़माने से एक बिल्कुल दूसरी किस्म की पद्धति चलती आई है। यहां जो मुहर्रम के शेर नाचते हैं, हमारे यहां रायपुर में, दक्कन में, बस्तर में, जगदलपुर में, चारों तरफ साउथ में, शिरे अली के नाम से उसके अंदर हिन्दू संस्कार बहुत से मिलते हैं। और मुहर्रम में जो बगैर बाजों के सोज़ पढ़ा जाता है, उसको 'गाया जाता है', नहीं कह सकते। कहना मायूब भी समझा जाता है। उसमें कोई साज़ नहीं होता मगर बड़ी खुली पाटदार आवाज़ में अच्छा सोज़ पढ़ने वाले, बड़े अच्छे सुर में टीप की आवाज़ में सुनाते हैं। उस में दख़ल नहीं है, मुसलमान कौन है और कौन हिन्दू है, सबकी आंखों में आंसू आ जाते हैं। यह सब हमारे संस्कार और घुले-मिले संस्कार जिनका बहुत गहरा ताल्लुक धर्म से, मज़हब से हैं। एक दूसरे पर जो असरअंदाज़ हुए हैं हमारे मज़ाहिब, उनसे भी इसका ताल्लुक रहा है। जब उर्दू शायरी में ग़ालिब यह कहते हैं:

वफ़ादारी बशर्ते उस्तवारी अस्ले ईमां है।

मरे बुतख़ाने में तो काबे में गाढो बिरहमन को।।

हिन्दुस्तान का शायर ही इस तरह की बात कह सकता था।

इस कल्चर से वो वाकिफ़ है। ब्राह्मण की वो तारीफ़ कर रहे हैं कि अगर उसमें वफ़ादारी, उस्तवारी है, कन्सिस्टेंसी है दुर्योधन की तरह की - सुई के नोक के बराबर भी जमीन नहीं दूंगा - सौ भाई मरवा दिये, कटवा दिये, आखिर तक नहीं माना, नतीजतन हार गया। लेकिन जब पांडव सिधारे और वहां पहुंचे तो देखकर दंग थे कि दुर्योधन को स्वर्ग में जगह मिली है। पर जवाब मिला कि आदमी में वफ़ादारी थी, इन्टिग्रिटी थी, कन्सिस्टेंसी थी, एक बात पर अड़ा रहा तो आखिर तक अड़ा रहा। तो ग़ालिब भी यही कह रहे हैं कि अग्र ब्राह्मण पैदा हुआ है बुतख़ाने में, सनम की पूजा करते हुए, बुतपरस्ती करते हुए, काफ़िर है, कुफ़्र पर आखिर तक, मरते दम तक कायम हैं। बीच में एक कड़ी गायब करके ग़ालिब ने कहा है :

वफ़ादारी बशर्ते उस्तवारी अस्ले ईमां है।

मरे बुतख़ाने में तो काबे में गाढो बिरहमन को;;

द क्विन्टेसेंस ऑफ़ फ़ेथ इज़ कन्डीशंड बाए कन्सिस्टेंसी, इफ़ दैट प्रीमाइस इज़ करैक्ट, दैन -मरे बुतख़ाने में तो काबे में गाढो बिरहमन को। तो पैदा तो बुतख़ाने में हुआ, कुफ़्र की भूमिका में, उसकी फ़िज़ाओं में पैदा हुआ, पला, बीच में छोड़ा नहीं। उन्होंने सिर्फ़ मरने का ज़िक्र किया है। तो ईमान का तो पक्का था। इसलिए कि अगर ईमान का मूल रूप उसका सत्य है, उस्तवारी है, कन्सिस्टेंसी है- उसको उन्होंने पहले डिफ़ाइन कर दिया है- वफ़ादारी-फ़ेथफुलनेस कन्डीशंड बाए कन्सिस्टेंसी इज़ द क्विन्टेसेंस ऑफ़ फ़ेथ। अगर ये सच है तो फिर उसको वहां ले जाओ और बड़े ताम-झाम से, एहतमाम से काबे में उसको गाढो। तो ख़ैर काबे में तो कोई ब्राह्मण नहीं जायेगा गढ़ने के लिए। लेकिन कहने के लिए उन्होंने ये कहा कि वह क़ाबिल-ए-एहताराम है, उतना ही जितना कोई भी ईमानदार आदमी हो सकता है।

फिर सुब्ह और जुनार का हमारे यहां उर्दू शायरी में आप को बार-बार ज़िक्र मिलेगा। सुब्ह और जुनार का मतलब जनेऊ और जाप की माला। ये प्रतीक, सिंबल्स बन जाते हैं। तो संस्कृति कहां-कहां से फूट के निकली है, कैसे वो पनपी है और कहां तक पहुंची है। मोमिन जब कहते हैं :

उग्र सारी तो कटी इश्के बुतां में मोमिन।

आख़री वक्त में क्या खाक मुसलमां होंगे।।

तो लफ़्जे बुत से फ़ायदा उठा के, बुत यानी माशूक, अल्लाह के सिवा किसी और की परस्तिश इस्लाम में नाजायज़ है, वो वाहिद है, इनडिविज़बल है, एक है। 'दुई' को वो बरदाश्त नहीं करता है। उसके पास अल्लाह के अलावा कोई और नहीं है जिसकी परस्तिश की जाए। और मैं हसीनाओं की परस्तिश करता रहा हूँ उतनी ही

शायद ज्यादा बनिस्वत अल्लाह के, तो मैं काफिर हुआ। अब मैं आखिरी वक़्त में मुसलमान क्या खाक होऊंगा। किस बैकग्राउन्ड से शेर कहा गया है, इस पर गौर करें। बुतपरस्ती, बुतशिकनी इनकी आपको हज़ार मिसालें मिलेंगी। मीर तकी मीर कहते हैं :

*मीर के दीनो मज़हब को पूछते क्या हो के उन्ने तो।
कशका खैंचा, दौर में बैठा, कब का तर्क इस्लाम किया।।*

तो मीर साहब ने तो तिलक लगा ली थी, मंदिर में बैठ गए। इस्लाम तो इजाज़त नहीं देता इन चीज़ों की। मगर वो वहां बुतखाने में बैठा। उसका भी इशारा बुतों के इश्क से है, हसीनाओं की मुहब्बत से है। उस किस्म की वालिहाना मुहब्बत जो कि जायज़ है खुदा के लिए। पर अगर वो इन्सान के लिए बरती जा रही है तो वो काफिर है। तो ये किस मुल्क का शायर कह सकता है सिवाय हिन्दुस्तान के? हिन्दू मज़हब तो और कहीं नहीं है। फ़ारसी की जो गज़लें हैं उसके अंदर ये मिसालें आपको नहीं मिल सकतीं, हालांकि उर्दू की गज़ल के ऊपर बड़ा गहरा असर फ़ारसी की रवायतों का है। लेकिन इसके बावजूद ये सिर्फ हिन्दुस्तान का शायर कह सकता था। जिसकी मैंने आप को मिसालें दीं।

यास यगाना चंगेज़ी लखनवी बड़े अच्छे शायर थे, अभी हाल ही में उनका इन्तक़ाल हुआ। उनकी सोहबत से हमें भी बड़ा फ़ायदा हुआ। उनकी बातें भी बहुत पुरलुत्फ़ थीं और शेर बहुत अच्छे। बहुत खराब शेर भी कहते थे। ग़ालिब दुश्मनी में उन्होंने बहुत से उल्टे-सीधे शेर भी कहे हैं। लेकिन जो सरदार जाफ़री ने उनको छांट के, बुखारी के हुक्म पे छोटा सा इन्तखाब निकाला है, उसमें से आप एक मिसरा भी नहीं हटा सकते, सब का सब पूरा शाहकार है, मास्टरपीस। मुरसां गज़लें हैं, मतले से लेकर मक्ते तक। लखनऊ के बारे में उन्होंने कहा है-उसमें एक शेर है :

*सब तेरे सिवा काफिर आखिर इसका मतलब क्या।
सर फिरा दे इन्सां का, ऐसा ख़व्ते मज़हब क्या।।*

बहुत पुरलुत्फ़ शायर थे।

*मूज़ीयों के मूज़ी को पड़ चुके बहुत पाले
उस चुके बहुत काले
मूज़ीयों के मूज़ी का फ़िक्रे नेशे अकरब क्या।
सर फिरा दे इन्सां का ऐसा ख़व्ते मज़हब क्या
सब तेरे सिवा काफिर आखिर इसका मतलब क्या।*

शेख़ जी के मुखातिब है, ज़ाहिर है मुल्ला से कट्टरपन के खिलाफ़। मुल्लापन के खिलाफ़ उर्दू शोअरा की पूरी सफ़ खड़ी है।

*ऐ मोहतसिब न फ़ेक, अरे मोहतसिब न फ़ेक
ज़ालिम शराब है, अरे ज़ालिम शराब है।*

जिगर मुरादाबादी का शेर है। मोहतसिब यानी सेंसर करने वाला कौन हो सकता है सिवाय शासन के और मुल्ला के। और “मस्जिद के ज़ेरे साया खराबात चाहिए”

टोटली अण्डरमाइनिंग ऑल फंडामेंटलिज़्म, के मस्जिद के पास

ही अगर शराबखाना भी हो तो दोनों चीज़ें कर लेंगे। शराब भी पी लेंगे और नमाज़ भी पढ़ आयेंगे। दोनों चीज़ों से बेफ़िक्री। मैं उर्दू शायरी की रवायतों से निकला हूँ तो चुनांचे ये मिसालें ज्यादा दे रहा हूँ। हज़ारों चीज़ें आपको दूसरी जगहों से मिल जायेंगी। चाहे वो महादेवी वर्मा हों, मुक्तिबोध हों, निराला हों, और शुअरा हों, रघुपति सहाय फिराक हों, पंडित दयाशंकर नसीम हों, पुराने लोगों में अकबर इलाहाबादी हों। इन तमाम के अन्दर ये हमारी विरासत, ये हमारा विरसा, हैरिटेज रहा है। चुनांचे धर्म का बड़ा ज़बरदस्त कंट्रीब्यूशन कल्चर की तरफ रहा है। नज़ीर अकबराबादी का नाम मैं भूल गया :

*ज़ोर बलदेव जी का मेला है
ज़र अशफ़ी है, पैसा धेला है
वाह क्या-क्या वो खेल खेला है
भीड़ है, खल्कतों का मेला है
मोतिया है, चमेली, बेला है
ज़ोर बलदेव जी का मेला है*

महादेव का ब्याह, या सब मिलकर अरदास करो और सब जन बोलो वाहे गुरु। तो धर्म से ताने-बाने हमारे कल्चर के इतनी गहराई से मिले हुए हैं कि उनको अलग नहीं किया जा सकता।

साम्प्रदायिकता को क्या धर्म का लाज़मी अंश माना जा सकता है? क्या हम अगर अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं और कल्चर उसका इतना फ़ायदा उठाता है, तो क्या हम ये कहेंगे कि दुनिया के सभी मज़हबों में सबसे अच्छा इस्लाम है या हिन्दू मज़हब है और जो बाकी लोग हैं वो निकम्मे हैं, घटिया, कमतर हैं। वो ब्लू आईड आर्यन्स, जिनको हिटलर ने कहा था, वो नहीं हैं। ये काले बाल, काली आंखों वाले यहूदी हैं, जिनको खत्म कर देना ऐन सबाब का काम है; ये तो किसी मज़हब में आपको नहीं मिलेगा। तो साम्प्रदायिकता का कोई ताल्लुक कल्चर से नहीं है। धर्म का मगर है। साम्प्रदायिकता का संबंध क्या धर्म से है? नहीं है। संस्कृति का धर्म, मज़हब से बहुत गहरा ताल्लुक है। लेकिन साम्प्रदायिकता का न कल्चर से ताल्लुक है न धर्म से। ये बात आप और हम सब अच्छी तरह से जानते हैं कि ये कोई और चीज़ है, इस चिड़िया का कुछ और ही नाम है। इसके पॉलिटिकल कॉम्प्लीकेशन हैं, ये पैदा की गई हैं, पहले नहीं थी। अंग्रेजों ने इसे पाला-पोसा, बढ़ाया, पनपाया। जनम का निहायत उम्दा नाटक, चटगाँव पर मैंने कल देखा। उसमें बहुत भड़काने की कोशिश की गई कि मुसलमानों को मार रहे हैं हिन्दू- निकलो बाहर ताकि उनको मारा जाए और फ़साद शुरू किया जाए- लेकिन वो नहीं निकले। हैदर अली और टीपू सुल्तान जो मैसूर में थे और आसिफ़दौला और निज़ाम-उल-मुल्क हैदराबाद में थे। मराठों के साथ अंग्रेजों की साज़-बाज़ थी कि कुछ कांट-छांट करें। सारी हिस्ट्री इस से भरी हुई है।

बहुत दूर अगर न जायें तो साम्प्रदायिकता की इमीडियेट इब्तिदा, कि कहां से शुरू हुई तो हमको 200 साल के अन्दर की ये हिस्ट्री मिलती है; गद्दारों की हिस्ट्री। इक़बाल कहते हैं:

*“जाफ़र अज़ बंगाला सादिक़ अज़ दकन
नंगे मिल्लत, नंगे दीन, नंगे वतन”*

बंगाल से उठे जाफ़र और मैसूर (दकन) से उठे सादिक और ये मिल्लत, यानी कम्युनिटी के नाम पर लानत थे, मज़हब के नाम पर लानत थे, और वतन के नाम पर लानत थे। तो उसमें नंगे मिल्लत, नंगे दीन, दीन का मतलब मज़हब, नंगे वतन। इस पर एक जाफ़री ने जो लाहौर के हुआ करते थे और मज़ाहिया और तनज़िया शायरी बड़ी अच्छी करते थे, जैसे उन्होंने आज़ाद नज़्म का व्यंग्य लिखा था :

एक मिसरा फीले बे जंजीर का मानिंद

लम्बा चौड़ा वो मिसरा था। हाथी के पांव की लम्बी सी जंजीर की तरह का मिसरा। दूसरा उशतुर की दुम, ऊंट की दुम। इस तरह की शायरी करते थे। इक़बाल के शेर पे मज़ाक उड़ाते हैं :

गांधी अज़ गुजरातो

भावे अज़ दक्कन

नंगे पांव, नंगे सर, नंगे बदन।

नंगे का मतलब ही बदल दिया उन्होंने। नंग का मतलब लानत है। तो यह हमारी कल्चरल हैरीटेज है। साम्प्रदायिकता का कोई ताल्लुक हमारी विरासत से नहीं है। ये कुछ अंग्रेजों की देन है, कुछ हिटलर महोदय की देन है। साम्प्रदायिकता और फ़ासिज़्म में बहुत कम फ़र्क बाक़ी रह गया है।

हर मज़हब या उसके बारे में कोई चिंतन, फ़िक्र जब हुई है तो एक तरक्कीपसंद तहरीक की तरह आया है। दुनिया का हर मज़हब उसमें हिन्दू मज़हब शायद इसलिए शामिल नहीं है क्योंकि उसको मज़हब मानना ज़रा सा ग़ौरतलब है। वे ऑफ थिंकिंग, वे ऑफ़ लिविंग, एक तरीक़ा ए हयात। तरीक़ा उसका खुला-डुला, निहायत अच्छा, जिसमें न पण्डित को ताल्लुक है, और न मंदिर को। ये सब तमाम चीज़ें हिन्दू मज़हब में नज़र नहीं आतीं, ये सब बाद की चीज़ें हैं, अपना-अपना जमाया-कमाने धमाने का धंधा- कि मेरे बग़ैर शादी नहीं हो सकती, मेरे बग़ैर मौत नहीं हो सकती, मेरे बग़ैर बच्चा जन्म नहीं ले सकता, सारे संस्कार मेरे माध्यम से होंगे। मैं भगवान और आपके बीच में बाध्यम हूँ, पुल हूँ। पंडित का रोल बाद में आया, मंदिर था नहीं। घर में बैठकर पूजा कर लो। पेड़ को मान लो, नाग-सांप को मान लो, किसी भी देवी-देवता को मान लो, सब बराबर है। ये इतना खुला-डुला मज़हब है, इसमें इतनी आटोनोंमी है। इसके अंदर से इतना कट्टरपन कैसे पैदा हुआ। पण्डित भी इतने कट्टर नहीं थे। ये तो राजनैतिक लोग हैं जिन्होंने नए किस्म की पंडित कौम बनाई है। आर्य समाज भी लिबरल, उसकी थिंकिंग भी। अकबर का दीन-ए-इलाही या बहाई मूवमेंट, ये सब लोग मुफ़्तिकर हैं, चिन्तक हैं, जो सोचते हैं कि यह फ़र्क मिटाया जाना चाहिए। यह सब चीज़ें बाद की हैं। इंटरकम्युनल शादी नहीं हो सकती तो आर्य समाज में आ जाओ, हो जायेगी। चुनांचे क्या अच्छा नावेल लिखा है रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'गोरा' सारा आर्य समाज के ऊपर है। तो फिर अपने श्यामा प्रसाद मुखर्जी- जैसे डेढ़ ईट की मस्जिद मुल्ला ने बनाई, वैसे ही उन्होंने भी एक मंदिर स्थापित किया जनसंघ नाम का। जिससे बाद में विश्व हिन्दू परिषद् निकली, बी.

जे.पी. निकली, शिव सेना भी आई। अब जनसंघ की बहुत औलादें हैं, वो इतनी पनपी हैं, इतनी बड़ी हैं कि हैरत होती है। आपस में ढकोसले और फ़र्क रखना, अपनी-अपनी शिनाख़्त अलग बनाए रखना, अंदर ही अंदर सबकी मिली भगत होना और सबका एक प्रोग्राम होना। चाहे वो ए.बी.वाजपेयी हों या एल.के.आडवाणी हों, बुनियादी तौर से एक ही हैं। अमरीका जाकर ए.बी.वाजपेयी कहते हैं कि मैं स्वयंसेवक हूँ। वहां कुछ और यहां कुछ और।

कहते हैं ज़्यादा से ज़्यादा आप हम पे साम्प्रदायिकता का इल्ज़ाम लगा सकते हैं, आतंकवाद का इल्ज़ाम नहीं लगा सकते। मैंने सोचा, गुनीमत है इतना तो मान रहे हैं। लेकिन इतना नहीं समझ रहे हैं कि साम्प्रदायिकता बढ़के आतंकवाद, फ़ासिज़्म तक आराम से, बड़ी आसानी से पहुंचती है, जो मुझे यकीन है अवाम बहुत साफ़ तरीक़े से देख रहे हैं। फिर भी एल.के.आडवाणी कहते हैं कि हम सत्ता में आये तो कैसे आये? बाबरी मस्जिद तोड़कर ही तो आये। सही कहते हैं, बिल्कुल सच कहते हैं। एक बात तो सच कहते हैं- उसी के बल पर तो आए। और किस तरह बहुत से वोट देने वालों को बरग़ुलाया वो खुद ही में एक चमत्कार है। और सत्ता में आ गये। अब उनका खयाल है कि उसी प्रोग्राम में फिर एक बार चकमा दे देंगे। तो मेरा अपना ज़ाती खयाल है कि दो बार गुच्चा खाने वाली ये मख़लूक, ये जनता, ये अवाम नहीं है। वो किसी भी मज़हब, किसी भी दीन के हों। सत्ता का जो रास्ता इन्होंने दिखाया, साम्प्रदायिकता के माध्यम से, वो रास्ता लोगों को इतना साफ़ नज़र नहीं आया, या नज़र आया तो यह मालूम हुआ कि ये सत्ता का ही रास्ता हो सकता है, मज़हब का नहीं है। अपने उद्धार का रास्ता ये नहीं है। देखिये बड़े मोटे रूप से अगर देखा जाए तो सिर्फ़ दो तबक़े हैं- एक शोषक वर्ग दूसरा शोषित वर्ग। वर्ग तो ख़ैर बहुत से हैं मध्यम वर्ग और निचला तबक़ा वग़ैरा। पर मोटे रूप से दो हैं। तब आपको मालूम होगा कि इसका जो दायरा है बहुत वसीह है। ये फ़र्क आपको एक ग्लोबल लेवल पर भी लाएगा। बम गिरेगा अमरीका का, मार-काट जहां होगी तो एशिया, अफ़्रीका, ईस्ट यूरोपियन देशों में होगी, कमज़ोर मुल्कों में, लातिन अमरीका, वियतनाम, कोरिया, कोसोवो, इराक, पूर्वी यूरोप जिसमें रूस भी शामिल है, सोमालिया, चिली वग़ैरा। ये ग़ौर करने की बात है कि इनका एक भी बम न्यूक्लियर, उनके मुल्कों पर नहीं गिरा। तो ये कौन सा फ़र्क है? फ़र्क तो वही है। एक बाज़ार खुला है तो हथियारों का और तेल का। कभी आज तक ये सुनने में नहीं आया कि उज़्बेकिस्तान का तेल चाहिए तो अफ़ग़ानिस्तान को अपने हक़ में रखना चाहिए। अफ़ग़ानिस्तान की जो फंडामेंटलिस्ट सांप्रदायिकता से भरी हुई हुकूमत तालिबान की रही है, उसके हक़ में कौन लिबरल आदमी हो सकता है? ओसामा बिन लादेन का जो मार्ग है उसका कौन भला आदमी, माकूल अक्ल रखने वाला साथ दे सकता है। लेकिन उसको ठीक करने वाले ये कौन? इसके ऊपर ज़रा सा शक़ होता है कि क्यूँ? फिर यह समझ में नहीं आता कि आतंकवाद ये है कि टॉवर को उड़ा दिया जाये, जो कि है-बहुत ही ख़राब बात है जिस तरह किया गया। लेकिन दूसरे ये के आपको अभी सबूत भी नहीं मालूम और सारे मुल्क के तमाम गरीब अफ़ग़ानों को आप पीसे चले जा रहे हैं।

कारपेट बॉम्बिंग कर रहे हैं। साथ-साथ खाना बरसा रहे हैं पब्लिक रिलेशनज़ के लिए। और कुछ अपने ज़मीर के लिए, वो भी मलामत ज़रूर करता होगा। कैथोलिक ज़मीर भी मलामत कर सकता है, करता होगा, वो भी मज़हबी लोग हैं। तो उसकी तलाफ़ी के लिए कुछ दवाएं फेंक दो, कुछ खाना फेंक दो। किसी ने कहा कि भई सिर्फ़ खाना और दवा फेंकते तो क्या तालिबान का निज़ाम उलट नहीं सकता था? ऐन मुमकिन है कि उलट जाता। इसलिए कि भूखों मर रहे थे, दाने-दाने के लिए मोहताज थे तालिबान के ज़माने में भी, अब तो और भी बुरी हालत है। एक वो पॉलिसी हो सकती थी। ये तो मिलिट्रीज़्म है जिसमें उनको उज़्बेकिस्तान का तेल चाहिए, जिसका जिक्र उनके होंठों पर कभी नहीं आता है। जिसकी पाइप लाइन वो अफ़गानिस्तान, पाकिस्तान, हिन्दुस्तान से पूर्वी एशिया तक ले जायें और करोड़ों डॉलर कमाएं। इस प्रोग्राम के बारे में आप टी.वी. पर नहीं सुनेंगे। हमारा मीडिया मुस्तक़िल ये बात कर रहा है कि कट्टर आतंकवादी जो हैं, सारी दुनिया से उनको नेस्तोनाबूद करने के लिए हम निकले हैं। इसके अंदर अटल बिहारी वाजपेयी भी शामिल हैं और परवेज़ मुशरफ़ भी और टोनी ब्लेयर भी। उसका नाम हमारे दोस्तों ने रखा है- बुश का नौकर। वो बुश के नौकर की तरह घूमते रहे। बहुत परेशान कभी भारत, कभी पाकिस्तान, सीरिया, फिलीस्तीन। वो घुमा रहा है वो चल रहे हैं। तो मिलिट्रीज़्म को क्या आतंकवादी नहीं कह सकते। तो मक़सद अगर कुछ और है, सारा का सारा पॉलिटिकल है, इकॉनॉमिक है, बाज़ार से ताल्लुक़ रखता है। ग्लोबलाइज़ेशन, कन्ज्यूमरिज़्म से ताल्लुक़ रखता है। तो फिर इस लड़ाई का मतलब क्या है? क्या आप दुनिया से कट्टर आतंकवाद को मिटा रहे हैं? जिसको आपने खुद मौक़ा दिया पनपने का, अमरीका में उसको पाला पोसा, तरबीयत दी, उनको सब सिखाया, कि किस तरह टैरिज़्म करते हैं, बम बनाते हैं, कैसे हवाई जहाज़ उड़ाते हैं, तालिबान को सिखाया, ओसामा को सी.आई.ए. ने ट्रेड किया। ये कम्युनिज़्म को हटाना चाहते थे, रूसियों को भगाना चाहते थे, जब वो हट गए तो वो भी मिल गए, उन्हीं की बनाई हुकूमत वहां रूस में भी है। अब मुसीबत यह आ गई है कि हम शिकार हो गये हैं ऐसी दुनिया के जिसके अंदर कुछ तो टेंशन पहले थी, कुछ रोक-थाम थी। दो बड़ी पावर्ज थे। अब तो एक बड़े भाई डंडा लिए घूम रहे हैं चारों तरफ सारी दुनिया की नाक में दम कर रहा है। तो साम्प्रदायिकता वहां तक ले जाती है। हिटलर के फ़ासिज़्म को साम्प्रदायिकता कहने पे मैं मजबूर हूं। बुश साहब की सारी पॉलिसी को सिवाए टैरिज़्म या मिलिट्रीटैरिज़्म के जिसमें बहुत कम फ़र्क़ मुझे नज़र आता है और कुछ नहीं कह सकते। असली मक़सद ही है मुरादाबाद के बर्तन बनाने वाले, सूरत के दर्ज़ी, अहमदाबाद के कारख़ानेदार, जितने भी मुसलमान हैं, सब यहां से भागें। एक साहेब ने टीवी पर, बी.बी.सी पर गुजरात के बारे में खुलकर कहा था कि हम मुसलमान को मारेंगे और इस तरह कि हमको कोई ताल्लुक़ नहीं कि खून गिर रहा है। बिना तलवार के, बिना खंजर के, रोज़गार छीन लेंगे तो ज़ाहिर है ये बहुत मारना है।

अब रही मुस्लिम सांप्रदायिकता। जिसको उन्होंने पनपाया और बैकवर्ड रखा। और एक से एक इमाम बुख़ारी पैदा हुए हैं और

सबने ले ली हाथ में बागडोर, सारे मुसलमानों की रहनुमाई की। मुश्किल ये है कि लिबरल किस्म का कोई मुस्लिम लीडर बन के सामने खड़ा नहीं हुआ। एजुकेशन, बैकवर्डनेस अलग और ज़्यादातियां अलग। साम्प्रदायिकता हुई। एक नेटवर्क मुसलमानों का, साम्प्रदायिकता का, आतंकवाद की हद तक का मुझे नज़र नहीं आया है, उस कट्टरपन के बावजूद। मुसलमानों में जो लिबरल हैं उनकी मुसीबत ये है कि गरीब और अमीर के फ़र्क़ को देखते हैं और सोचते हैं कि गरीब हिन्दू, गरीब मुस्लिम, गरीब ईसाई, गरीब सिख, जितने भी हैं, वो एक वर्ग के हैं। और जिनके पास धन है, दौलत है, मकान है, सब कुछ है, वो दूसरे तबक़े के हैं। लड़ाई इन दो तबक़ों की है। गरीबी, मज़हब के फ़र्क़ को नहीं मानती। दोनों मुश्तरक हैं। चुनावे दोनों में जितने भी समाज के लोग हैं उनको एक रहना चाहिए। ये तो बहुत अच्छा प्रोग्राम है। लेकिन उसके साथ-साथ मुसलमानों को बरग़लाने के लिए मुल्ला किस्म के लोग इधर-उधर खड़े ज़रूर हो गये हैं। स्टूडेंट्स का, मदरसे का जो सिलसिला चल रहा है, बहुत ही महदूर किस्म की पढ़ाई वहां होती है। उस पढ़ाई में कुछ आमदनामे को, फ़ारसी की दख़ल है। कुछ कुरान शरीफ़ की दख़ल है। कुछ नमाज़ कैसे पढ़ते हैं। ये तो पुराने मदरसे हुए, जिससे मैं भी निकला हूं। उसके बल पे और बहुत कुछ हासिल भी कर लिया। वो फ़ारसी बहुत कम थी, ऐलिमैण्टल थी। कुरान के किस्से-कहानियां जैसे महाभारत में हैं, बहुत दिलचस्प किस्से हैं। हर मज़हबी किताब में मिलेंगे। वही हमारा कल्चर है। बाइबल में है, बहुत ही ड्रामेटिक किस्से। खुदा से विरोध के, जो सबरे अय्यूबी, लैंहने दाउदी, दाउद को डेविड कहते हैं बाइबिल में, बहुत अच्छा गाते थे, रबाब बजाते थे। सुलेमान जिनको सोलोमन कहते हैं, बड़े अच्छे शायर थे, इश्क़िया पोइट्री करते थे। बादशाह थे। बिलक़ीस पे आशिक हुए थे। और वो भी उसको नहाते हुए देख लिया बरहना बदन, तो आशिक हो गए थे। चुनावे उसके शौहर को लड़ने के लिए, फ़्रंट पर भेज दिया इस उम्मीद से कि वह मर जायेगा और चुनावे वह मर गया। और इस बिना पे उससे शादी की। ह्यूमन स्टोरीज़ महाभारत से लेकर कुरान तक में मौजूद हैं। यह हमारा कल्चर है। वो कल्चर नहीं है, कि मुस्लिम अच्छा है, हिन्दू बुरा है। सिमी जिस पर बैन लगाया गया है और यहां दिल्ली में पकड़ लिया स्टूडेंट्स को। पोटा शुरू किया है। ऐसी-ऐसी चीज़ें जिनमें फ़ासिज़्म की बू आती है। टाडा का नाम बदलकर पोटा रख दिया है। पोटा भी अजीब है, टाडा भी अजीब था। आवाज़ ही अजीब है। मुलाहिज़ा कीजिये ये इनकी एस्थैटिक सैन्स है, साउंड सैन्स है। इनका नेटवर्क, शिवसेना का वी. एच.पी. का, इंग्लैंड, अमरीका तक फैला है। वो आतंकवादी नहीं है। ये हैं, हमारे सर पर बैठे हैं। हुकूमत कर रहे हैं। मौक़ा मिला है टर्म कर लेंगे। यू पी सामने है, खुदा करे हारें, कुछ तो उनको अक्ल आये। वहां हारे तो शायद सेंटर में भी हारेंगे। सेंटर में तो अगले वक़्त नहीं आएंगे। खुदा न करे ये आयें। ये अगर आये तो बड़ा ग़ज़ब ढाने वाले हैं। अगर मैजोरिटी से एक बार आ जाएं फिर आप इनका असली चेहरा देखेंगे-फ़ासिज़्म से भरा हुआ। अगर थिओक्रैटिक स्टेट पाकिस्तान में बन सकती है तो थिओक्रैटिक स्टेट यहां भी बनना चाहिए। अगर उनके पास एटम बम हैं, तो हमारे पास भी एटम बम

होना चाहिए। ये सब तरीके समझोते और शान्ति अराम के अमन और उद्धार, रोजी-रोटी के साधन पैदा करने के नहीं हैं। करोड़ों रुपये कारगिल में बर्बाद। हज़ारों, सैकड़ों नौजवान कारगिल में खत्म। बेवाएं घूम रही हैं, माएं बेटों से महरूम। खामखाँ की लड़ाई। साम्प्रदायिकता थिंकिंग हो जाए तो कौन कह सकता है कि मज़हब का पालन करने वाले हैं। मज़हब के बारे में इतना तो नहीं जानते हैं जितना स्कॉलर्स जानते हैं, चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान। मेरा खयाल है कि मैं भी हिन्दू मज़हब के बारे में जानता हूँ थोड़ा-बहुत। और अगर तुलना की जाये इनके जो राजनैतिक नेता हैं उनसे, तो उस नेता का पलड़ा कम पड़ जायेगा, शायद मैं ज़्यादा जानता हूँ। जो जानते हैं, वो इतना गलत जानते हैं कि वो जहालत के बराबर जानते हैं। या जो उसका प्रयोग है वो जहालत के बराबर है। बाबरी मस्जिद को तोड़ना उसे आतंकवाद ही कहेंगे। इनकी नज़र में संस्कृति ऐसी है कि उसे बंद कर दो डिब्बे में और फिर दान की तरह बांटो लोगों में, कुछ योगदान, कुछ ग्रांट यहां वहां। कुछ परफॉर्मिंग आर्ट्स, कुछ संगीत, कुछ नाच। तो जहां तक इन कलाओं और हम कलाकारों का ताल्लुक है, तो हमारा तो कोई वोट बैंक है ही नहीं। जहां वोट बैंक है वहां विभाजन पैदा किया गया है। और वो विभाजन सिर्फ मज़हबों के बीच में नहीं है, कास्ट के बीच में भी है। ऊंची जात का आदमी, नीची जात का आदमी, ठाकुर का अलग, दलित अलग, सब वोट बैंक कायम करके इसको अपनाओ और सत्ता का रास्ता सीधा रखो। इसका ताल्लुक न तो विकास से है और न धर्म मज़हब से। सीधे-सीधे सत्ता का रास्ता है। प्रशासन का भी रास्ता नहीं है। गुड गवर्नेंस, इसमें से निकलना बहुत मुश्किल है। संस्कृति को आप फाइल में बंद नहीं कर सकते, डिपार्टमेंट में बंद नहीं कर सकते। अगर कल्चर हमारा ओढ़ना-बिछौना है, संस्कृति अगर हमारे संस्कारों से ताल्लुक रखती है, अगर हम किस तरह काश्त करते हैं, कौन सी खाद इस्तेमाल करते हैं-वो हमारा कल्चर है। किन-किन जड़ी-बूटियों से हम सेहत के बारे में जानते हैं, हमारी माएं और हमारे बुजुर्ग। जो हम चुटकुले जानते हैं, वो हमारा कल्चर है। अगर ये इस तरह से फैला हुआ है, परवेसिव है कल्चर, तो फिर आपने कल्चर को प्रिज़र्व करने का दम क्यों भरा? यह दावा तो ग़लत है। इसलिए कि आपने आसमान के तमाम दरीचे खोल दिये हैं। वहां से जो कदरें बरसें दुनिया भर की एलियन, गैर मुल्की, गलत किस्म के बदबूदार, पॉप म्यूज़िक, हिन्दी गलत बोल रहे हैं, विज्ञापनों की वजह से, अमरीकनों की तरह हिन्दी बोली जा रही है। कल्चर पे प्रहार है, बच्चे अपने पुरखों से बिछड़ गये हैं, उनकी अपनी दादी-नानी की कहानियों से तरबीयत नहीं हो रही है।

एक बार ई एम फॉस्टर ने कहा था- दोज़ हू आर बोर्न इन फ्लैट्स माई डियर हैव नो एनसेस्टर्स। ये एनसेस्टर्स के बगैर वाले बच्चे पैदा हो रहे हैं, ये नई पौध जो आ रही है। कोई तालमेल कहीं से भी नहीं है। एक डिपार्टमेंट मौजूद है कल्चर का, हर स्टेट के पास, सेन्टर के पास भी मौजूद है। मगर फॉरिन मिनिस्ट्री कोई अलग पॉलिसी चला रही है। आई एंड बी का विभाग अलग प्रोग्राम चला रहा है। कृषि का प्रोग्राम बिल्कुल अलग किस्म से चल रहा है, ग्रीन रेवोल्यूशन लायेंगे। इन्टैल्क्चुअल प्रोपर्टी राइट्स की ऐसी-तैसी कर

रखी है। गोया बासमती, नीम, ज़ीरा और जाने क्या-क्या और जायेगा। दनादन पेंटेंट किया जा रहा है और कैलीफोर्निया पहुंच रहा है, शिकागो जा रहा है। उसकी तरफ़ इनका ध्यान नहीं है। फ्रांस कहता है, आम हमारी प्रोपर्टी है कभी कोई और मुल्क कहता है, उसका है। बंगलौर का आम वहां का आम नहीं है। तो बाज़ार के ज़ोर पे ये हमसे क्या-क्या छीन लेंगे। मल्टीनेशनल का ज़ोर है, बाज़ार गर्म है। हॉट मनी चली आ रही है। प्रभात पटनायक कहते हैं-यहां से पैसा लोन लिया और प्रोडक्शन में नहीं डाला। घूम के रुपया कमाया और दूसरे मुल्क में डाल दिया और घूमता रहा पैसा। पैसे से पैसा बढ़ता रहा पर प्रोडक्शन में, पैदावार में किसी तरह मददगार नहीं हुआ। मैनेजन पांडेय इसको कहते हैं- लकवाग्रस्त चेतना। एब्सोल्यूटली पैरालाइज़्ड बाई नॉनथिंकिंग। इसका हम शिकार हो रहे हैं। इस बाज़ार के अंदर जो कन्ज्यूमरिज़्म है, दो मिनट प्रोग्राम दिखेगा और दस मिनट के विज्ञापन। एंड दैड इज़ थ्रोइंग इट डाउन योअर श्रेट ऑल द गुड्स थू दैट मीडियम। कल्चर की क्या सेवा हो रही है? वो तो मिटने की चीज़ें हैं, मिट जाएं, हमारे सारे संस्कार, हमारे नाच, गाने, गीत। दम भरते रहें महाभारत के, रामायण के, कल तक वो भी ऐसा रूप ले लेंगी कि पहचान में नहीं आएंगी। तो हर लिहाज़ से अगर इस तंगनज़री से देखा जायेगा तो विकास का पहलू निकलता नहीं है। विकास के पहलू के सिलसिले में लिप सर्विस तो दुनिया भर की है। डीसैट्रलाइज़ेशन एक लफ़्ज़ ये ही ले लीजिए। क्या डीसैट्रलाइज़ेशन हो रहा है? पंचायती राज कायम हुआ वहां, क्या हो रहा है? -डुप्लीकेशन एंड रेप्लीकेशन ऑफ़ ए सिस्टम विच इज़ फुल ऑफ़ नपोटिज़्म एंड करप्शन एंड ऑल द अदर कन्ट्राडिक्शंस। वहां गांव में भी मैंने देखा कोई फ़र्क नहीं है। विधानसभा में, लेजिस्लेटिव एसेम्बली, पार्लियामेंट और पंचायत में। उसी की छोटी फॉर्म है और वहां भी कुछ लोग उसको पकड़ के बैठ गये और शोषण चल रहा है, करप्शन जारी है। सड़क मेरा एक नाटक है। सड़क के माध्यम से बैलाडिला का लोहा जाता है जापान। एक आदिवासी इलाके से सड़क गुज़र रही है-उस लोहे को, एल्यूमिनियम को या कोई और पदार्थ लेकर जाने के लिए। कोई उद्धार उनके रास्ते में पड़े गांव का नहीं है। बल्कि उनके लिए बाज़ारी माल, ख़राब किस्म की शराब, जिसमें वो अलग बरबाद हो रहे हैं, पहुंच रही है। पहले वीकली मार्केट शुरू किया था अंग्रेज़ के ज़माने में। अब हर रोज़ का मार्केट है, सड़क के माध्यम से बेचा जा रहा है और उनका शोषण भी कर रहा है। इस तरह हमारे जितने भी संस्कार हैं उनको मिटाने पर आमादा है। अन्धे इतने हैं कि उनको कुछ नज़र नहीं आ रहा है या आ रहा है तो मुंह मोड़ लेते हैं, उनको तो सत्ता चाहिए। यहां आ गया है पॉलिटिकल सिस्टम। गवर्नमेंट और कल्चर में कुछ ऐसा विरोध आपस का है, जैसा किसी सौतेली मां का हो सकता है। या अगर दो बीवियां हैं तो उनके बीच में हो सकता है। कल्चर और गवर्नमेंट का साथ चोली-दामन का साथ नहीं है। धर्म और संस्कृति का तो है। तो जब भी हाथ लगाती है गवर्नमेंट कल्चर के नाम पे किसी चीज़ को, या परफॉर्मिंग आर्ट्स को, या कलाओं को, तो वो कुछ मुरझा के खत्म-सा हो जाता है। इट हैज़ गौट ए ब्लार्डिंग इफ़ेक्ट। अगर ये दूर रहें उससे तो बहुत अच्छा है। लेकिन नेकी कर

और दरिया में डाल, ये इनको नहीं आता है। ऐसा नहीं करते कि दे दो इनको योगदान, जिसकी ज़रूरत है उन बेचारों को दो तो कंट्रोल करो, अपने आदमी को डालो। चाहे वो बाल भवन हो, चाहे एकेडमी ऑफ़ एडमिनिस्ट्रेशन हो या जितनी भी संस्थाएं हों, पांच साल का मौका मिला है। फिर वोट मिलें न मिलें, कल्चर जाये जहन्नुम में। वो इस वक़्त हो रहा है। एक सपाटपन, होमोजिनाइज़ेशन जो उपभोक्तावाद के माध्यम और ग्लोबलाइज़ेशन के माध्यम से आ रहा है। वो हमारे कल्चर का ज़बर्दस्त दुश्मन है- हर कल्चर का। एक तो डाइवर्स किस्म के डेवलपमेंट पैटर्न्स हो सकते हैं अगर खुदमुख्तारी दी जाये। तो अगर कई लेवल की सोसाइटी है और उनकी सभ्यता अलग-अलग है। सभ्यता से मेरी मुराद वो तमाम सिस्टम जिसका ताल्लुक कल्चर से है। उनके पास है “माजी” सिस्टम, आदिवासियों के पास, ज्यूरिसप्रुडेन्स उसमें शामिल है। कल्चर भी शामिल है। क्या उससे हम नहीं सीख सकते? ज़रूर सीख सकते हैं। पर वो सूट नहीं करता। बड़ा ही बेआरामी का रास्ता है उस किस्म का विकास।

साक्षरता जैसे आन्दोलन पे अगर पाबन्दी लगाई जाए, इसलिए कि साक्षरता के माध्यम से भी आदमी क्रांति तक पहुंच सकता है, बदलने तक, समाज में परिवर्तन लाने तक। क्योंकि अगर चेतना पैदा की जाये अक्षर के सिलसिले में कि आपकी क्या ज़रूरतें हैं और उसका क्या समाधान है, और वो उनके पास मौजूद है। और उसमें एकता और संगठन आ जाये तो उससे वो लोग डरते हैं, तो उसके बरसरे इख़तिदार हैं। चाहे तो बी.डी.ओ. हो, चाहे कलेक्टर हो, चाहे तहसीलदार हो। ये लोग साक्षरता का भी आंदोलन चलाते रहे हैं। बड़े जोरों में साक्षरता का आंदोलन शुरू हुआ। केरल इनक्लूडिड, पहल तो उसी ने की। फिर जाकर गर्क कर दिया इन्होंने आंदोलन। इसलिये उसकी आग महसूस होनी लगी कि अपनी कब्र खोदना है, ये तो अपने पांव पर कूल्हाड़ी मारना है। इसलिये कि अजीब चेतना पैदा हो रही है लोगों में। यह एहसास पैदा हो रहा है कि हम सब मिलकर चाहें तो वो परिवर्तन ला सकते हैं, जिससे हमें पार्टीशिपेशन, भागीदारी मिल जाये सोच-विचार की। शासन के सिलसिले में या प्रोग्राम्ज़, प्रोजेक्ट्स और स्कीमों के सिलसिले में। ये मानकर चले हैं कि ये तो अनपढ़ हैं, गंवार हैं, जाहिल हैं, बेवकूफ़ हैं-ये तो एक ज़माने से चला आ रहा है। शिक्षा जो है वो एक कारखाना है, ऐसे बेवकूफ़ों को पैदा करने का। उनकी सोच-समझ मफ़लूज़ हो जाये, लक़वाग्रस्त हो जाये और वो ही नज़र आये कि ये कपड़े अच्छे हैं। और वो जो मेरा समाज पहनता है, आदिवासी या कोई भी, उसके प्रति घृणा हो। अगर वो किसी स्कूल का चपरासी बन जाता है तो वो अपने आप को बेहतर समझता है बनिस्वत उस आदमी के जो गा रहा है, नाच रहा है। एक एम.एल.ए. साहिब ने दो दशक पहले कहा था- शेख़ गुलाब की स्कीम के जवाब में उनकी स्कीम थी आदिवासी बच्चों को नाच-गाना सिखाने की। उनके लिए ग्रांट मिले। बड़े गुस्से में एसेम्बली में एक आदिवासी खड़ा हुआ और कहा-‘व्हाट, माई चिल्ड्रन विल सिंग एंड डांस। सरटेनली नॉट, दे शैल बी एजुकेटिड।’ एजुकेटिड का मतलब समझे! तो शिक्षा में संस्कृति का कोई अंश आपको नहीं मिलेगा। एक टीचर से बस्तर में मेरी मुलाकात हुई। स्कूल बंद, टीचर गायब, बच्चा कोई नहीं। पता लगाया कि क्या हुआ। टीचर ने अपना रोना रोया- इतनी दूर

से आना पड़ता है। बच्चे नहीं आ रहे तो क्या करूं, तनख्वाह लेता हूं और बैठा रहता हूं घर में। गांव वालों से पूछा उन्होंने कहा-क्या किस्सा है? बच्चे काम करते हैं उससे हमारी रोज़ी-रोटी चल रही है। टीचर को तो तनख्वाह मिल रही है। अगर हम बच्चों को स्कूल भेजें तो उसकी तनख्वाह में से हमें भी मिले। उसे पढ़ाने की तनख्वाह मिलती है तो हमें पढ़ने की तनख्वाह क्यों नहीं मिलती? बड़ी माकूल बात लगी। उस कमबख्त को तो पढ़ाने की तनख्वाह मिल रही है हमारे बच्चे भूखों मर रहे हैं, इनको पढ़ने की तनख्वाह मिलनी चाहिए। वज़ीफ़ा मिलना चाहिए। वहां पर शिक्षा का कार्यक्रम आगे नहीं बढ़ा है। जहां बढ़ा है वहां उन्हें एलिनिट कर रहे हैं। कारखाना है जो शिक्षा को जो निज़ाम है। इसकी शिकायत एक ज़माने पहले गांधीजी ने खुद की थी कि मैं अपने लोगों को बाबू नहीं बनाना चाहता। मैं बुनियादी एजुकेशन चाहता हूं ताकि वो काम की चीज़ें सीखें। मगर किसी ने ध्यान नहीं दिया। गांधीजी महात्मा थे, पर प्रोग्राम गलत था, ये कहने की ज़रूरत ही नहीं है। हम चालू भी नहीं करेंगे। उनके पास संस्कृति का भी कोई विज़न नहीं था और इकोनॉमी भी नहीं जानते थे। वो चाहते थे कि सेल्फ़ रिलायन्ट अहिंसावादी कन्ट्री पैदा हो। ये साम्प्रदायिकता, ये आतंकवाद उनके ज़हन में नहीं थी, न ही किसी भी माकूल आदमी के ज़हन में।

तो शिक्षा की भी बहुत ज़्यादा दुश्मनी संस्कृति से पैदा हो गई है। शिक्षा व्यवस्था और कल्चर में आपसी विरोध पैदा हो गया है। अब खुद ही आप कल्चर में डूब जायें तो एक अलग बात है। शिक्षा के माध्यम से कल्चर की तरफ़ रास्ता नहीं निकलता, बहुत दूर हटता है। तो गोया चूंकि हमारे पास कोई वोट बैंक नहीं है और जिसे कल्चर कहते हैं वो इनकी नज़र में इनडिफ़ाइनैबल है तो जो चाहते हैं, करते हैं। जो विकास की परतें हैं उसमें भी घपला है और तो बाज़ार खुल गये हैं उसमें भी घपला है। हथियार और तेल में भी दगा, धोखा-फरेब है। ये जो होमिजिनाइज़ेशन आ रहा है उसके अंदर भी कल्चर पर ही प्रहार है। समाज में परिवर्तन सब कुछ लाया जा सकता है। हम लोग इष्टा में पी.सी.जोशी की सरपरस्ती देख रहे थे, जिन्होंने इतने ज़बर्दस्त आंदोलन को अपनी रहनुमाई में जन्म दिया था। वक़्त बदला, वहां से हटे, इलाहाबाद आये। यहां प्रेम सागर गुप्ता और डांगे साहब से मिले कि एक ट्रेड यूनियन थियेटर कायम किया जाए। प्रेम सागर गुप्ता को बात अच्छी लगी, डांगे साहब को भी अच्छी लगी, पर नतीजा कुछ नहीं निकला। पी.सी.जोशी के पास विज़न था। कल्चर में अगर डटे रहो तो समाज में पूरा परिवर्तन राजनैतिक भी निकलेगा। और यहां क्या है उल्टा, जो अभी चल रहा है इस वक़्त-कांग्रेस से लेकर भाजपा तक, जिसका राज कायम हुआ। राजनीति और सत्ता के माध्यम से जाकर सीधा कल्चर पर प्रहार का मतलब आप के जीने के तरीके और पहचान को नेस्तनाबूद कर दो, उसे सपाट बना दो कि उस दुनिया का आप एक हिस्सा बन जायें जैसे कि अमेरिका, फ्रांस इत्यादि। ये फर्क तो मिटेगा नहीं। वो मिटाना भी नहीं चाहते, लेकिन हमें ये भ्रम है कि हम लाट साहब बन जाएंगे अगर अपनी गुलामाना ज़हनियत को लिए उनकी नक़ल पे चलते हुए, उन्हीं के रास्ते चलते रहेंगे।

मैं अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूं, बहुत-बहुत शुक्रिया।

(नौवां सफ़दर हाशमी स्मृति व्याख्यान, नवंबर 2001)

साभार : हमने हबीब को देखा है

फाँसी के तख्ते से जूलियस फूचिक

चेकोस्लोवाकिया का क्रांतिकारी

जूलियस फूचिक ने यह पुस्तक नात्सी जल्लाद के फन्दे की छाया में लिखी थी। इसकी पांडुलिपि के रूप से ही इसके लेखक के अदम्य साहस और अनोखी सूझबूझ का प्रमाण मिल जाता है। इसकी पांडुलिपि हैं कागज की स्लिपें जिन पर पैसिल से लिखा हुआ है। बाद में यही स्लिपें एक हमदर्द चेक सन्तरी की मदद से पांक्राट्स, प्राग, के गेस्टापो जेल से एक-एक करके चोरी-चोरी बाहर लायी गयीं। फूचिक, जिसे अपने आप से छल करना कतई मंजूर नहीं था, जानता था कि वह इस खतरों भरी किताब को समाप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन तब भी उसका यह विश्वास अपनी जगह पर बिल्कुल टूट था कि उसके अपने देश के लाखों-करोड़ों लोग और दूसरे देशों के फासिस्त-विरोधी जन जल्द ही उसकी इस पुस्तक का उसके ही शब्दों में 'सुखद अंत' लिखेंगे।

...पिछले अंक से जारी

नम्बर 400

पुनर्जन्म एक बहुत खास घटना होती है। असाधारण, उसे बयान नहीं किया जा सकता। रात को अगर नींद अच्छी तरह आयी है और दिन अगर सुंदर है तो दुनिया बड़ी आकर्षक लगती है। पुनर्जन्म का दिन और दिनों से ज़्यादा सुंदर होता है, मानो उस रात सदा से भी ज़्यादा अच्छी नींद आयी हो। तुम्हारा खयाल था कि तुम जीवन के रंगमंच को जानते हो लेकिन

पुनर्जन्म साफ़ शीशे के आइने से जीवन के रंगमंच पर रोशनी फेंकता है और यकायक तुम उसको रोशनी से भरा हुआ देखते हो। तुम्हारा खयाल था कि तुमने ज़िन्दगी को काफी अच्छी तरह देखा है लेकिन पुनर्जन्म तुम्हारी आँख में दूरबीन लगा देता है और खुरदबीन भी। यह बिल्कुल बसंत ऋतु जैसी बात है-देखते नहीं बसंत हमारे सदा के जाने-पहचाने परिवेश में कहां से ऐसा जादू भर देता है जिसका हमें सपने में भी गुमान न था।

यहां इस कोठरी में, जहां तुम जानते हो कि वह क्षणिक है। यहां पांक्राट्स जेल की कोठरी के इस रंगीन और आकर्षक वातावरण में भी!

फिर एक दिन वह तुम्हें बाहर दुनिया की सैर के लिए ले जाते हैं। फिर एक दिन तुम्हारी ऐसी पेशी होती है जिसमें तुम स्ट्रेचर पर चढ़ कर नहीं जाते। गो यह तुम्हें बहुत नामुमकिन-सी बात मालूम होती है, लेकिन तुम वहां पहुंच सकते हो। गलियारे में रेलिंग है, जीने



पर रेलिंग है; तुम जैसे चलते हो उसे घिसटना कहना ही ज़्यादा ठीक होगा। नीचे साथी कैदी तुम्हें गोद में उठा लेते हैं और जेल की बस तक पहुंचा देते हैं। वहां तुम बैठते हो, दस या बारह आदमी, उस अंधेरी चलती-फिरती कोठरी में। नये-नये चेहरे तुम्हें देखकर मुस्कराते हैं और तुम भी जवाब में मुस्कराते हो। कोई कुछ बुदबुदाता है और तुम नहीं जानते कि वह कौन है; तुम किसी और का हाथ अपने हाथ में ले लेते हो और नहीं जानते कि वह हाथ किसका है। बस

तेजी से घूम कर पेचेक बिल्डिंग के चौक में दाखिल हो जाती है और नये साथी उसमें से तुम्हें निकालकर बाहर लिटाते हैं। तुम सब एक लंबे-चौड़े कमरे में दाखिल होते हो जिसकी दीवारें नंगी हैं और जिसमें बेंचों की पाँच कतारें लगी हुई हैं, जिन पर मानव आकृतियां अकड़ी हुई, अटेंशन की हालत में बैठी हैं, उनके हाथ घुटनों पर जमे हुए जकड़े हुए-वे अपने सामने की सूनी दीवार पर अपलक आँख जमाये हुए हैं ... यह तुम्हारी नयी ज़िन्दगी का एक टुकड़ा है, मेरे दोस्त, इसका नाम 'सिनेमा' है। वह पर्दा जिस पर तुम अपनी पूरी ज़िन्दगी को सौ बार गुज़रते देखोगे।

मई दिवस

आज पहली मई 1943 है जब थोड़ी-सी फुर्सत मिली है और मुझे लिखने का मौका है। कैसा सौभाग्य है-फिर कुछ क्षणों के लिए कम्युनिस्ट संपादक बन जाना और मई दिवस को होने वाली नयी दुनिया की जंगी ताकत की परेड के बारे में एक कहानी लिखना!

नहीं, इसकी उम्मीद मत करो कि मैं लहराते हुए झंडों के बारे में कुछ कहूंगा, नहीं वह सब कुछ नहीं। और न मैं तुम्हें किसी जोश दिलाने वाली लड़ाई का किस्सा ही सुना सकता हूँ गो मैं जानता हूँ कि लोग उसे बहुत पसंद करते हैं। आज की बात उन सब से कहीं ज़्यादा सीधी-सादी है; आज हज़ारों मार्च करने वालों की वे विस्फोटक लहरें नहीं हैं, जो और साल पहली मई को प्राग की सड़कों पर जोश के संग उबाल खाया करती थीं। लाखों सिरों का वह खूबसूरत समुंदर भी नहीं, जिसे मैंने मास्को रेड स्क्वायर में देखा है। यहां लाखों आदमी देखने को नहीं मिलते, और न सैंकड़ों; यहां तो सिर्फ मट्टी भर साथी हैं। लेकिन तब भी लगता है कि यह भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यहां एक नयी ताकत का इम्तहान हो रहा है जो भयानक से भयानक आग से गुज़रती है और राख नहीं लोहा बनकर निकलती है। यह लड़ाई के मैदान में होने वाला इम्तहान है, यहां भी हम खाकी वर्दी पहनते हैं।

यह इम्तहान ऐसी छोटी-छोटी बातों में होता है कि मुझे शक है कि तुम अगर लड़ाई की भट्टी में से नहीं गुज़रे हो तो सिर्फ उसके बारे में पढ़कर उसे समझ भी सकोगे। शायद समझ सको। मेरी बात का विश्वास करो, यहां शक्ति का जन्म हो रहा है।

बीथोवेन की दो कड़ियों की खट्-खट्ट के रूप में सबेरे का नमस्कार पास की कोठरी से आता है। आज उसमें ज़्यादा आग्रह है, उल्लास है और आवाज भी ऊँची है।

हमारे पास जो अच्छे-से-अच्छे कपड़े हैं उन्हें हम पहनते हैं। सभी कोठरियों में लोग यही करते हैं।

हम बहुत ठाठदार नाश्ता करते हैं। ट्रस्टी कोठरी के खुले हुए दरवाजों के सामने बिना दूध का काला कहवा, डबल रोटी और पानी लिये दौड़ते फिरते हैं। मई दिवस की शुभकामना के रूप में कामरेड स्कोरेपा हमें दो के बदले तीन 'बन' देते हैं। एक सजग आत्मा की शुभकामना, एक ऐसे व्यक्ति की, जो अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का कोई न कोई अनूठा तरीका निकाल ही लेता है। 'बनों' के नीचे हमारी उँगलियाँ एक दूसरे को छूती हैं और बहुत धीरे से ही सही मगर दबाती हैं। बोलने की कोई हिम्मत नहीं कर सकता- वे हमारी आँखों के भाव की भी कड़ी निगरानी रखते हैं। लेकिन गूंगे अपनी उँगलियों से ही आपस में अच्छी तरह बात कर लेते हैं।

हमारी खिड़की के नीचे कैदिनें कसरत के लिए बाहर आती हैं। मैं जंगले में से नीचे देख सकने के लिए मेज़ पर चढ़ जाता हूँ। शायद वे ऊपर की ओर नजर उठावें। वे मुझे देख लेती हैं और मुडियां बांधकर लाल सलाम करती हैं। और एक बार और। नीचे सहन में बड़ा अच्छा है-और दिनों के मुकाबले में सचमुच उल्लासपूर्ण। संतरी यह सब देखता नहीं-या देखना नहीं चाहता। वह भी मई दिवस की परेड का एक अंग है।

फिर हमारी बारी आती है और आज मुझी को कसरत करवानी है। आज पहली मई है दोस्तों, हमें कोई नयी चीज शुरू करनी चाहिए,

संतरी देखता हो चाहे न देखता हो। पहली कसरत हथौड़ा घुमाना है- एक दो, एक दो। दूसरी है फसल काटना। हथौड़ा और हँसिया-बात लोगों की समझ में आ जाती है। सभी लोगों में मुस्कुराहट की एक लहर-सी दौड़ जाती है और लोग उत्साह के साथ कसरत करने लगते हैं। यह हमारा मई दिवस का प्रदर्शन है साथियों; यह मूक अभिनय मई दिवस की हमारी शपथ है कि हम दृढ़ रहेंगे, हम भी जो मौत की तरफ मार्च कर रहे हैं।

वापस कोठरियों में। नौ बजा। क्रेमलिन के घण्टाघर में दस बजता है और रेड स्क्वायर में परेड शुरू होती है। आओ, पापा, वे लोग इंटरनाशियोनाल गा रहे हैं। सारी दुनिया में इंटरनाशियोनाल गूँज रहा है, हमारी कोठरी में भी तो गूँजे। हम इंटरनाशियोनाल गाते हैं और एक के बाद एक कई इन्क़लाबी गाने। हम अकेले नहीं रहना चाहते-और न हम अकेले हैं। हम लोग उनमें से हैं जो वहां, बाहर, दुनिया में आजादी के संग गाने की हिम्मत रखते हैं। वे भी लड़ रहे हैं, जैसे हम...

उन सर्द दीवारों के पीछे,

जेल के हमारे साथियों,

तुम हमारे साथ हो तुम हमारे साथ हो।

गोकि तुम हमारी कतार में मार्च नहीं कर सकते।

हाँ, हम तुम्हारे साथ हैं।

कोठरी नंबर 267 में हमने इसको मई दिवस 1943 के उत्सव का उचित उपसंहार समझा। लेकिन अंत यह नहीं था। औरतों की बारक की वार्डर मुँह से लाल फौज का मार्चिंग-गीत बजाती हुई वहाँ सहन में घूम रही है। फिर वह पार्टिज़ैन्का (छापेमार लड़की का गीत) और दूसरे सोवियत गाने सीटी बजाकर निकालती है, और इस तरह वह मर्द कैदियों की हिम्मत में अपनी हिम्मत का योग देती है। और चेक पुलिस की वर्दी पहने वह आदमी जो मेरे लिए कागज़ और पैसिल लाया था और अब मेरी कोठरी के सामने पहरा दे रहा है जिसमें मेरे लिखते वक्त कोई अचानक आ न जाए। और वह दूसरा चेक संतरी जिसने मुझे लिखने के लिए प्रेरित किया और अब मेरे लिखे हुए कागज़ उस दिन तक के लिए कहीं छिपाने को ले जाता है जिस दिन कि वे छप सकेंगे। कागज़ के इस टुकड़े के लिए उसे अपने सिर की कीमत भी चुकानी पड़ सकती है, लेकिन वह सीखचों में बन्द आज और आज़ाद कल के बीच कागज़ का एक पुल बनाने के लिए अपनी जान खतरे में डालता है। वे सब एक ही लड़ाई लड़ रहे हैं, बहादुरी के साथ लड़ रहे हैं, जहां कहीं भी वे हों, जो भी हथियार उनके हाथ आयें। इतनी सादगी से वे इस लड़ाई को लड़ते हैं, किसी तरह का प्रदर्शन का भाव नहीं और किसी तरह के दर्द से इस कदर खाली कि उन्हें देख कर तुम समझ ही नहीं सकोगे कि वह एक ऐसी लड़ाई लड़ रहे हैं जो मौत के संग खत्म होगी, जिसमें जान बचने और जान जाने में सिर्फ एक सूत का फर्क होता है।

दस बार, बीस बार तुमने क्रांति के सैनिकों को मई दिवस के

रोज़ परेड करते देखा है, और कितनी शानदार थी वह भीड़। लेकिन लड़ाई में ही फौज की असली ताकत का पता चलता है। और तब तुमको मालूम होता है कि यह सेना अजेय है। मौत जैसा कि तुम उसके बारे में सोचते थे उससे कहीं आसान है और वीरता के इर्द-गिर्द देवमूर्तियों जैसा कोई अलौकिक ज्योतिमण्डल नहीं है। लेकिन लड़ाई जैसा कि तुमने उसे खयाल किया था, उससे कहीं ज़्यादा निर्मम है और अन्त तक डटे रहने और जीतने के लिए असीम शक्ति लगती है। तुम इस सेना को आगे बढ़ते देखते हो, लेकिन इसमें कितनी ताकत है, इसे सदा अनुभव नहीं करते-इसकी चोटें इतनी सीधी-सादी मगर बेपनाह पड़ती हैं।

आज यह बात तुम्हारी समझ में आती है। 1943 के मई दिवस की परेड के वक्त।

यक़ूम मई 1943 ने कुछ देर के लिए इस कहानी के प्रवाह को खंडित कर दिया। स्वाभाविक भी था। त्योंहार के मौकों पर इंसान कुछ दूसरे ही ढंग से सोचता है, और आज मुझे जो खुशी महसूस हो रही है, मुमकिन है इस दिन की मेरी याद को वह बिगाड़ दे।

लेकिन पेचेक बिल्डिंग का 'सिनेमा' निश्चय ही कोई अच्छी लगने वाली चीज़ न थी। यह यातनाग्रह से लगा हुआ बड़ा कमरा है, जहां से तुम्हें दूसरों की चीखें और कराहें सुनायी देती हैं और तुम सोचते हो कि तुम पर क्या गुज़रने वाली है। उसके अन्दर लोग दाखिल होते हैं तंदुरुस्त और ताकतवर और दो-तीन घंटे बाद निकलते हैं यातनाओं से टूटे हुए, कुचले हुए, लंगड़े और लूले और ज़ख्मी और बेकार। अंदर जाते वक्त एक ताकतवर मर्दानी आवाज़ तुमसे विदा लेती है-और लौटने पर वही आवाज़ दर्द से रूंधी होती है, उखड़ी-उखड़ी, बुखार की-सी हालत में। और कभी-कभी तो इससे भी बुरी चीज़ देखने को मिलती है। तुम्हारे सामने एक आदमी अन्दर दाखिल होता है, उस वक्त उसकी निगाहें साफ और सीधी होती हैं; मगर जब वह लौटता है तब तुमसे आँख नहीं मिला सकता, उसकी निगाह में चोर होता हैं वहाँ यातनागृह में एक पल के लिए उसमें कमजोरी आयी थी, अनिश्चय, डर और अपनी जान बचा लेने की अत्यन्त प्रबल इच्छा का एक पल, बस एक पल। मगर इसका मतलब है कि कल वे लोग नये शिकारों को लायेंगे, जिन्हें शुरू से लगा कर तमाम यातनाएँ सहनी होंगी, वे लोग जिनका सुराग उस साथी ने दुश्मन को दिया।

वह आदमी जिसका शरीर बेकार और लुंज कर दिया गया है उससे भी बुरा और तकलीफदेह उस आदमी को देखना है जिसका साहस टूट गया हो, और जिसकी अंतरात्मा बुझ गयी हो। मगर मौत, जो यहां घूमती फिरती है, अगर उसका स्पर्श तुम्हारी आँखों को लगा है; अगर पुनर्जन्म ने तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियों को जगाया है, तो बिना एक शब्द के तुम जान जाओगे कि किसके पैर काँप गये, किसने किसी दूसरे का भेद बताकर उसके संग दगा की, किसने एक पल के लिए ही सही यह विचार अपने मन में आने दिया कि सर खम कर देना ही ठीक है और अपने साथियों में सबसे मामूली से एक आदमी का

नाम बतला देने में ऐसा बड़ा हर्ज भी क्या है! जो कमजोरी के शिकार होते हैं वे सचमुच बड़े दयनीय हैं। उनकी वह जिन्दगी क्या होगी जिसका मूल्य उन्होंने एक दूसरे साथी की जिन्दगी से चुकाया है!

मुमकिन है पहली बार जब मैं सिनेमा में बैठा था तब यह विचार मेरे मन में न आया हो, लेकिन अकसर यह बात मेरे मन में आती। बिलकुल भिन्न परिस्थितियों में यह विचार उस दिन मेरे मन में आया, उस कमरे नम्बर 400 में जो अक्ल और समझ की खान है।

मुझे सिनेमा में बैठे अभी ज़्यादा देर नहीं हुई थी, शायद एक घंटा, शायद डेढ़ घंटा जब किसी ने पीछे से मेरा नाम पुकारा। दो शहरी लोगों ने जो चेक बोलते थे मुझे अपनी निगरानी में लिया, लिफ्ट में मुझे लिटाया, चौथी मंजिल पर बाहर निकाला और एक दूसरे बड़े कमरे में ले गये जिसके दरवाजे पर नंबर 400 की तख्ती लटक रही थी।

पहले तो मैं अपने आप बैठा रहा, दीवार के पास की उस अकेली कुर्सी पर बिल्कुल अकेला, और कुछ इस भाव से अपने चारों ओर निहारता रहा जैसे अभी इस मुहूर्त के पहले भी मैं एक बार जी चुका हूँ। क्या मैं इसके पहले कभी यहां आया था? नहीं, कभी नहीं। लेकिन यह सब मेरा जाना-पहचाना है। मैं इस कमरे को जानता हूँ। इसके बारे में एक बुखार की-सी हालत वाला क्रूर सपना देख चुका हूँ। उस सपने ने इस कमरे की शकल बिगाड़ दी थी और उसे मेरी आँखों में बेहद घृणित बना दिया था, लेकिन ऐसा नहीं कि मैं उसे पहचान न सकूँ। अभी तो यह बड़ा आकर्षक लग रहा है, कमरे में रोशनी भर रही है और रंग साफ नज़र आता है, टिन चर्च और लेटूना का हरा बाग़ और किला, जो सब बड़ी-बड़ी खिड़कियों और उनके हलके जालीदार पर्दों के बीच से दिखायी देते हैं। मेरे सपने में तो वह कमरा बिलकुल अंधेरा था और एक खिड़की नहीं, उसका रंग मटमैला पीला-सा और उनके बीच आदमी छाया जैसा दीख पड़ता। हां यहां तो आदमी थे। अब यह खाली है और पास-पास एक के पीछे एक छः बेंचें, 'डैडेलियन' और बटरकप^प के चमकदार हरे मैदान-सी लगती हैं। सपने में तो यह जगह आदमियों से भरी लगती थी, बेंचों पर एक दूसरे से सट कर बैठे हुए, उनके चेहरे पीले और खून से लथपथ। वहां दरवाजे के काफी पास, काम के समय का नीला चोगा पहने एक आदमी खड़ा था, जिसकी आँखें संत्रस्त थीं, जो पीना चाहता था, पीना, और जो गिरते हुए पर्दे की तरह फर्श पर ढेर हो गया...

हां, ऐसी ही थी मेरी कल्पना, लेकिन अब मेरी समझ में आता है कि वह सपना नहीं था। वह डरावना सपना नहीं था, वह हो चुका था।

मेरी गिरफ्तारी और पहली पेशी की उस रात को। वे तीन बार मुझे यहां लाये थे-शायद दस बार, मुझे क्या मालूम-जब भी वे आराम करना चाहते या किसी और की मरम्मत करना चाहते। मैं नंगे पैर था और मुझे याद है फर्श की टाइल ने मेरे सूजे हुए पैरों को ठंडक पहुंचायी थी तो मुझे कितना अच्छा लगा था।

युंकर्स कारखाने के मजदूरों से उस रात बेंचें भरी थीं-गेस्टापो की उस शाम की गिरफ्तारियां थीं वे। नीला, लम्बा-सा चोगा पहने जो आदमी दरवाजे के पास खड़ा था वह युंकर्स के पार्टी सेल का कामरेड बार्टन था, मेरी गिरफ्तारी का परोक्ष कारण। इस विचार से कोई मेरी गिरफ्तारी के लिए जिम्मेवार न ठहराया जाये, मैं कहना चाहता हूं कि इसकी वजह किन्हीं साथियों की कायरता या विश्वासघात नहीं बल्कि सिर्फ लापरवाही और दुर्भाग्य है। कामरेड बार्टन अपने सेल की तरफ से, हिटलर-विरोधी छापेमार आंदोलन के बड़े-बड़े नेताओं से संपर्क कायम करने की कोशिश कर रहे थे। उनके मित्र कामरेड जेलिनेक ने उनकी ओर से संपर्क स्थापित करने का वायदा करके अंडरग्राउंड आंदोलन का नियम भङ्ग किया, जब कि करना उन्हें यह चाहिए था कि पहले मुझसे कहते कि मैं सीधे कामरेड बार्टन से संपर्क स्थापित कर लूं, ऊपर से नीचे। वह एक गलती थी। दूसरी गलती यह हुई कि इवोराक नाम का खुफिया कामरेड बार्टन के पास से जेलिनेक का नाम जान गया। इस तरह जेलिनेक परिवार गेस्टापो के पंजे में आ गया, किसी बड़े काम को करने में असफल रहने के कारण नहीं-वह तो लगन और ईमानदारी से दो साल से करते आ रहे थे-बल्कि उस छोटी-सी सेवा के कारण जो अंडरग्राउंड आंदोलन के नियमों का थोड़ा-सा उल्लंघन करती थी। ऐसा हुआ कि उन्होंने उसी शाम जब कि मैं जेलिनेक के यहां गया था, जेलिनेक दंपती को गिरफ्तार करने का निश्चय पेचेक बिल्डिंग में किया था और यह बिल्कुल आकस्मिक बात थी कि वे लोग इतनी संख्या में और इतनी तैयारी से वहां गये थे। वैसी कोई योजना पहले से नहीं बनायी गयी थी; जेलिनेक दम्पति को वे लोग दूसरे रोज़ पकड़ने वाले थे। लेकिन युंकर्स के पार्टी सेल के सदस्यों को पकड़ने में गेस्टापो को कामयाबी मिली तो मारे जोश और खुशी के वे हंसी-हंसी में ही जेलिनेक के यहां गये थे। उनके आ जाने से हमको जितना अचम्भा हुआ, उससे कम अचम्भा उनको मुझे वहां पाकर नहीं हुआ। उन्हें यह भी मालूम नहीं था कि उन्होंने किसको पकड़ा है। और शायद उन्हें कभी पता न चलता अगर उसके साथ-साथ...

यह विचार सबसे पहले नंबर 400 में मेरे दिमाग में आया था। इसको आगे बढ़ाने का मौका मुझे बहुत देर में मिला। तब तक मेरा अकेलापन खत्म हो गया था, अब बेंचें भर चुकी थीं और दीवारों से लगी एक कतार खड़ी थी और एक से एक अनहोनी बातों को अपने गर्भ में छिपाये घण्टे तेजी के साथ बीतते जा रहे थे। इनमें से कुछ तो ऐसी अजीब थीं कि उन्हें मैं समझ नहीं सका; कुछ में दुष्टता कूट-कूटकर भरी थी, और उन्हें मैं खूब समझता था। पहली अनहोनी बात न तो ऐसी अनहोनी ही थी और न दुष्टतापूर्ण, वह तो बल्कि एक नेकी की बात थी, बहुत छोटी-सी और महत्वहीन, लेकिन तब भी मैं उसे कभी नहीं भूलूंगा। गेस्टापो के उस आदमी ने जो मुझे गौर से तक रहा था-मुझे याद आता है वह वही था जिसने मेरी गिरफ्तारी के बाद मेरी एक-एक जब उलट कर तलाशी ली थी- अपनी जलती

हुई आधी सिगरेट मेरी तरफ फेंकी। तीन हफ्तों में पहली सिगरेट, उस आदमी के लिए जो एक बार फिर जमीन पर लौट आया था। मैं इसे उठा लूं? कहीं वह यह तो नहीं सोचेगा कि एक सिगरेट से उसने मुझे खरीद लिया। मगर जिस निगाह से वह सिगरेट को देख रहा है वह बिल्कुल खुली हुई, निष्कपट है; किसी को खरीदने में उसे कोई दिलचस्पी नहीं है। लेकिन मैं पूरी सिगरेट नहीं पी सका। हाल के पैदा हुए बच्चे बहुत सिगरेट नहीं पी सकते।

दूसरी अनहोनी बात- चार आदमी फौजी ढंग से मार्च करते हुए आते हैं और उपस्थित लोगों को, मुझे भी, चेक जबान में नमस्कार करते हैं। वे मेज के पीछे बैठ जाते हैं, कागजात फैला देते हैं, सिगरेट जला लेते हैं, सब बहुत आराम से जैसे वह ज्यादा कुछ नहीं महज अफसर हों। लेकिन मैं उन्हें जानता हूं, कम से कम तीन को जानता हूं-क्या यह मुमकिन है कि वे गेस्टापो के संग काम करें? शायद-लेकिन ये तीनों भी? क्यों, वह तो टेरिंगल है या रेनेक जैसा कि हम लोग उसको पुकारते थे, बहुत दिनों तक यूनियन और पार्टी का सेक्रेटरी रहा, प्रकृति तो उसकी चंचल और उद्वण्ड जरूर थी, लेकिन उसकी वफादारी में कोई सन्देह नहीं। नहीं, यह कभी नहीं हो सकता! वह आंका विकोवा है, अब भी वह खूबसूरत है और उसकी कमर सीधी है, गो उसके बाल एकदम सफेद हो गये हैं। वह बड़ी निडर और दृढ़ संकल्प की लड़ने वाली थी-नहीं, यह कभी नहीं हो सकता! और वह देखो वाशेक रेजेक है, उत्तरी बोहेमिया की खानों में काम करने वाला राजगीर और फिर पार्टी का जिला-मन्त्री-मैं उसे खूब अच्छी तरह जानता हूं। उन तमाम लड़ाइयों के बाद जो हम लोगों ने संग-संग उत्तर के इलाकों में लड़ीं, आखिर कोई भी चीज़ कैसे उसकी कमर तोड़ सकती थी? नहीं, गैर मुमकिन! लेकिन यहां के लोग कर क्या रहे हैं? ये लोग चाहते क्या हैं?

मैं अभी इन सवालियों का जवाब भी नहीं ढूंढ पाया था कि नये सवाल पैदा हो गये। वे लोग मिर्का, जेलिनेक दंपती और फ्रीड दंपति को अन्दर लाये- हां मैं जानता हूं कि वे लोग मेरे संग पकड़े गये थे। लेकिन कला का इतिहासवेत्ता पावेल क्रोपाचेक जिसने बुद्धिजीवियों के बीच काम करने में मिरिक की मदद की थी, वह यहां कैसे आया? यह बात मेरे और मिरिक के अलावा और कौन जानता था? और वह लंबा सा नौजवान आदमी जिसका चेहरा भुर्ता कर दिया गया है यह दिखलाने की कोशिश क्यों कर रहा है कि हम लोग एक दूसरे को नहीं जानते? मैं सचमुच उसे नहीं जानता। लेकिन वह कौन हो सकता है? क्यों, वह तो शिटच है। शिटच, डाक्टर जडेनेक शिटच? या खुदा, इसका मतलब डाक्टरों की कमेटी तक उनके पंजे पहुंच गये। लेकिन उनके बारे में सिवाय मिरिक के और मेरे कौन जानता था? और जेल की कोठरी में मुझे सता-सताकर वे लोग मुझसे बुद्धिजीवियों के बारे में क्यों पूछ रहे थे? बुद्धिजीवियों के बीच जो काम हो रहा था। उसके संग मुझे जोड़ने की अक्ल उनमें कहां से आई? उसके बारे में सिवाय मिरिक के और मेरे, तीसरा कौन जानता था?

जवाब पाना कुछ कठिन नहीं था, लेकिन था वह एक क्रूर आघात- जरूर मिरक ने ही ज़बान खोली है, उसने हम सब लोगों को पकड़वाया होगा। एक पल के लिए मेरे मन में यह आशा आयी कि मुमकिन है उसने सब कुछ न बताया हो, लेकिन थोड़ी ही देर में कैदियों का दूसरा गुच्छा आया और मैंने देखा कि उसने क्या कर डाला है।

हर वह व्यक्ति, जो चेक बुद्धिजीवियों की राष्ट्रीय क्रान्तिकारी समिति का सदस्य समझा जाता था इस समय यहां पर मौजूद था-ब्लाडिमिर वांचुरा, लेखक; प्रोफेसर फेलबर और उसका लड़का; बेडरिक वाक्लाबेक, जो इतनी सफाई से भेस बनाये था कि पहचाना नहीं जा सकता था; बोजेना पुलपानोवा, जिंडरिक एलूब्ल, मूर्तिकार इवोराक। मिरक ने जरूर बुद्धिजीवियों के बीच काम की तमाम बातें बतला दी होंगी।

पेचेक बिल्डिंग में पहली बार जो मेरा वक्त गुजरा वह भी कुछ बहुत आराम का नहीं था, लेकिन यह आघात जो मुझे सहना पड़ा सब से ज्यादा क्रूर था। मैंने मौत की बात सोची थी, गद्दारी की नहीं। उसके बारे में राय बनाते वक्त मैं कितनी ही नर्मी से काम क्यों न लेता, उसके अपराध को कम करने वाली कैसी-कैसी परिस्थितियां ही क्यों न सोच डालता, लेकिन उस सबके बाद भी मैंने उससे उम्मीद यही की थी कि वह दुश्मनों को कुछ बतायेगा नहीं और अब उसकी इस हरकत के लिए मेरे पास गद्दारी के सिवा और कोई शब्द नहीं है। यह पैरों की थरथरी या कमजोरी न थी और न यह ऐसे आदमी की कातर भूल थी जिसे यातनाएँ दे-देकर मौत के पास पहुंचा दिया गया हो- इन चीजों को इन्सान माफ कर सकता है। अब मेरी समझ में आया कि उस पहली रात को ही उन्हें मेरा नाम कैसे पता चल गया। अब मैं जान गया कि एनी जिंरासकोवा यहां कैसे आयी, क्योंकि मैं दो बार उसके घर पर मिरक से मिला था। अब मैं समझ गया क्रोपाचेक और डाक्टर शिट्च यहां क्यों आये।

उसके बाद मैं रोज़ नम्बर 400 में ले जाया जाता, और रोज़ कुछ नयी-नयी तफसीलें खुलतीं। यह बड़ी करुण और भयानक बात थी। यह एक हिम्मतवर आदमी था, उसे गोलियों का डर नहीं था जब कि वह स्पेन के मोर्चे पर लड़ा था और न ही उसने फ्रांस के एक कंसेंट्रेशन कैम्प की बेरहम जिन्दगी के आगे ही सिर झुकाया। लेकिन गेस्टापो के आदमी के हाथ में छड़ी देखकर वह पीला पड़ गया था और, अपने दांत बचाने के लिए उसने हमारे संग गद्दारी की थी। कितना ओछा था उसका विश्वास और उसकी हिम्मत, जो कुछ चोटों से बचने की खातिर टूट गयी। बहुत से लोगों के बीच रहने पर, जब उसके चारों ओर उसके जैसे खयाल के साथी होते, तब उसमें हिम्मत रहती। जब तक वह उनके बारे में सोचता रहता तब तक उसमें ताकत रहती। लेकिन सबसे कटकर अलग जा पड़ने पर, कमजोरी की खोज में घावों में उंगलियां दौड़ाने वाले दुश्मन के बीच अकेला पड़ जाने पर, उसकी सारी ताकत हवा हो जाती, उसका सब कुछ नाश हो जाता

क्योंकि वह अपने बारे में सोचने लगता। अपनी जान बचाने की खातिर उसने अपने साथियों को हलाक कर दिया, कमजोरी की जगह दी और कमजोरी ही में गद्दारी कर गया।

वह भूल गया कि इशारों की जबान में लिखे गये जो कागजात उसके कमरे में पाये गये थे, उनका मतलब खोल कर रखने से कहीं अच्छा होता कि वह मरना कबूल करता। उसने उन तमाम कागजों के मतलब खोल कर उनके सामने रख दिये। उसने उन्हें (क्रान्तिकारियों के) नाम दिये, वह पते दिये जहां वे लोग छिप कर रहते थे। शिट्च के संग कहीं मिलने का उसने वायदा किया था, वहां वह अपने साथ गेस्टापो के एक आदमी को लेता गया। इवोराक के घर में वाक्लाबेक और क्रोपाचेक को लेकर एक मीटिंग हो रही थी, वहां उसने पुलिस को भेजा। एनी को उसने खुद पुलिस के हवाले किया। लिंडा बहादुर लड़की थी और उससे प्यार करती थी, उसके संग भी उसने गद्दारी की, उसे भी पकड़वाया। जो बातें मालूम थीं उनका आधा तो उसने दो ही चार मुक्कों-धूसों में उगल दिया। और जब उसने समझा कि मैं मर गया और अब किसी के सामने उसे जवाबदेही नहीं करनी पड़ेगी, तो उसने बाकी सब भी कह डाला।

इस सबसे वह मुझे कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकता। मैं तो गेस्टापो के हाथ में पहले ही से था- मुझे अब क्या चीज़ नुकसान पहुंचा सकती थी। लेकिन उसके जवाबों ने एक बहुत लंबी-चौड़ी छान-बीन के लिए जमीन तैयार की, गवाहियों का एक सिलसिला शुरू किया जो होते-होते मुझ तक पहुंचता था। उसने ऐसी-ऐसी बातें उन्हें बतलायी जिन्हें जान कर उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। क्या मैंने और मेरे साथ के दूसरे लोगों ने इसीलिए मार्शल लॉ की जिंदगी गुजारी थी? उसके और मेरे चले जाने के बाद मेरा दल तो न रह जाता। लेकिन अगर उसने अपना मुँह रक्खा होता तो उसके और मेरे मर जाने के बहुत ज़माने बाद भी उसका दूसरा दल जीता और काम करता होता।

कायर आदमी सिर्फ अपनी ही जिन्दगी से हाथ नहीं धोता। यह आदमी एक नायाब फौज का साथ छोड़कर भागा और सबसे घृणित दुश्मन के आगे जाकर उसने आत्मसमर्पण कर दिया। यों वह अब भी जिन्दा है, लेकिन सच पूछिए तो वह कभी का मर चुका, क्योंकि उसने अपने दल से अपने आपको अलग कर लिया। बाद में उसने अपनी गलती का भुगतान करने की कोशिश की, लेकिन उसे फिर वापस लिया नहीं गया। और यह सामाजिक बहिष्कार जेल में तो और भी असह्य हो जाता है

कैद और अकेलापन, इन दो बातों को अकसर लोग एक समझते हैं, लेकिन यह बहुत बड़ी गलती है। कैदी अकेला नहीं होता। जेल भी एक बिरादरी है और सख्त से सख्त कालकोठरी भी उसे अपने दोस्तों से अलग नहीं कर सकती-जब तक कि वह खुद अपने आपको अलग न कर ले। गुलामों की बिरादरी पर जो जोर-जबर्दस्ती होती है वह उसको और भी ताकत देती है, सब को एक ही धागे में पिरो

देती है, यहां तक कि सब एक दूसरे के दुख-सुख के साझीदार बन जाते हैं। वह दीवारों में घुस जाती है और दीवारों में जान आ जाती है, वे बोलने और खट्-खट् की ज़बान में संदेशा पहुंचाने लगती है।

यह बिरादरी हर बारक की कोठरियों को अपने में समेट लेती हैं, ये तमाम बारकें जिनके एक से काम हैं, एक-सी परेशानियां हैं, जिनके एक ही संतरी हैं और खुली हवा में कसरत के जिनके घंटे भी एक ही हैं। वे जब कोठरियों के बाहर एक दूसरे से मिलते हैं तब एक शब्द या एक इशारा कोई खबर पहुंचाने या कभी-कभी एक आदमी की जान बचाने के लिए काफी होता है। यह बिरादरी उन कैदियों को एकता की डोरी में बांध देती है जो पेशी के लिए एक संग ले जाये जाते हैं, साथ-साथ 'सिनेमा' में बैठते हैं। इस बिरादरी में शब्दों का लेन-देन बहुत कम होता है, मगर सेवाएं बहुत बड़ी, क्योंकि एक बार हाथ का मिलाना या एक सिगरेट का उपहार तुमको बन्द करके रखने वाले कठघरे के सींखचे तोड़ देने के लिए, और तुम्हें उस अकेलेपन से मुक्त करने के लिए काफी है जिसका उद्देश्य तुमको तोड़ देना है। कोठरियों के हाथ होते हैं और तुमको महसूस होता है कि जब तुम अमानुषिक यातनाएं भुगतकर लौटते हो तब वे तुम्हें अपनी बांहों में लेकर गिरने से बचा लेती हैं! वे तुम्हें खाना खिलाती हैं, जब दूसरे तुम्हें भूखों मार रहे होते हैं। कोठरियों के आंखें होती हैं और तुम फांसी के लिए विदा होते हो तब वे तुम पर निगाह रखती हैं और तुमको महसूस होता है कि तुम्हें कमर सीधी करके चलना चाहिए, तनकर, बिना डरे क्योंकि तुम उनके भाई हो और तुम्हारा एक भी कदम डगमगाना नहीं चाहिए क्योंकि उस कोठरी को तुम्हें कमज़ोर नहीं करना है। यह एक ऐसी बिरादरी है जिसके हज़ार घावों से खून बहता रहता है लेकिन तब भी वह अजेय है। बिना उसके सहारे के तुम अपने सिर पर आये हुए बोझ का एक दसवां हिस्सा भी नहीं उठा सकते। न तुम न आदमी का जाया और कोई।

अगर मैं यह कहानी जारी रख सका (क्योंकि इंसान को न दिन मालूम है न घण्टा) तो उसमें नम्बर 400 का ज़िक्र बार-बार आवेगा, इस अध्याय का शीर्षक भी तो वही है। पहले मुझे उसका ध्यान एक कमरे की शकल में आया, और वहां पर मेरे मन में जो विचार पहले-पहल आये उन्हें किसी तरह सुखद नहीं कहा जा सकता। मगर यह कमरा नहीं, एक कलेक्टिव (समष्टि) है, एक सोद्देश्य, लड़ने वाली टोली है, और सुखी भी।

गेस्टापो की कम्युनिस्ट-विरोधी टुकड़ी का काम बढ़ने के साथ-साथ यह 'सिनेमा' सन् 40 में शुरू हुआ। पहले यह 'अंदरूनी जेल विभाग' की कम्युनिस्टों के लिए नियत शाखा थी, कम्युनिस्टों को यहीं बैठकर इन्तजार करने की हिदायत थी जिसमें हर बार जब गेस्टापो का अफसर उनसे कोई सवाल पूछना चाहे तो उन्हें पहली मंजिल से चौथी मंजिल पर ले जाने की परेशानी से बच जाये। उनका ख्याल था कि इससे उनका काम आसान हो जाता है; यह 'सिनेमा' खोलने में यही उनका उद्देश्य था।

अगर आप दो आदमियों को साथ रख दें, और खास तौर पर अगर वे कम्युनिस्ट हों, तो पांच मिनट में उनका संगठन तैयार हो जाता है और आपकी तमाम योजनाओं को तहस-नहस कर चलता है। सन् 40 में 'सिनेमा' का नामकरण हुआ 'कम्युनिस्ट सेन्द्रल' और उसमें बहुत से परिवर्तन हुए। हज़ारों साथी, मर्द और औरतें, बारी-बारी से इनकी बेंचों पर बैठे। लेकिन एक चीज़ कभी नहीं बदली-इस समष्टि की आत्मा, इस समष्टि की जिसमें लड़ने की लगन है और जिसे अन्तिम विजय में दृढ़ विश्वास है।

नम्बर 400, लड़ाई के मैदान में एक बहुत आगे बढ़ी हुई खाई थी जो दुश्मनों से पूरी तरह घिरी हुई थी, जिस पर हर तरफ से गोलियों की बौछार हो रही थी, लेकिन जो दुश्मन के आगे हथियार डालने की बात एक मिनट के लिए भी सपने में भी नहीं लाती थी। यहां लाल झंडा फहराता है। अपनी आजादी के लिए लड़ने वाले समूचे राष्ट्र की पूर्ण एकता हमारी इस समष्टि की दृढ़ एकता में अभिव्यक्त होती हैं।

नीचे, खास 'सिनेमा' में एस.एस. के संतरी ऊँचे-ऊँचे बूट पहने गश्त लगाते; तुम्हारी आंख जरा-सी झंपी नहीं कि उन्होंने चिल्लाकर तुमको गाली दी। ऊपर नम्बर 400 में चेक इन्स्पेक्टर और पुलिस विभाग के गुप्तचरों की ड्यूटी लगती। ये लोग चाहे अपनी इच्छा से चाहे अपने बड़े अफसरों के हुक्म से दुभाषिण की हैसियत से गेस्टापो की नौकरी में दाखिल होते और गेस्टापो के गुप्तचरों का काम करते-या काम करते असली चेकों का। कभी-कभी दोनों ही। यह कुछ जरूरी न था कि आप यहां हाथ घुटनों पर और आंखें सीधे सामने को तकती हुई, अटेंशन की हालत में बैठें। आप आराम से भी बैठ सकते थे, अपने चारों तरफ ताक भी सकते थे, अपने हाथ भी हिला-डुला सकते थे। आप इससे ज़्यादा भी कुछ कर सकते थे, मगर यह इस बात पर निर्भर थी कि इन तीनों में से किस किस्म के संतरी उस वक्त ड्यूटी पर हैं।

नम्बर 400 में मानव प्राणी को बहुत पास से देखने और समझने का मौका मिलता है। मृत्यु की समीपता हम सभी को उघाड़कर अपनी असली गंगी शकल में खड़ा कर देती है। हम सभी यानी वे जिनकी बांह पर लाल फीते बंधे हुए थे, वे कम्युनिस्ट जिनका इन्तहान चल रहा था वे लोग जिनके बारे में यह शक था कि वे कम्युनिस्टों से सहयोग करते हैं या वे लोग जो यहां हमारी निगरानी के लिए रखे गये थे और जो पास ही के एक कमरे में इस छानबीन में मदद पहुंचाते थे। उस दूसरे कमरे में, यातना के समय, शब्द ही तुम्हारी ढाल थे और शब्द ही तुम्हारे हथियार। यहां नम्बर 400 में तुम शब्दों के पीछे नहीं छुप सकते। यहां वे तुम्हारे शब्दों को नहीं तौलते; वे तौलते हैं, उस चीज़ को जो तुम्हारे अन्दर है, जिस चीज़ से तुम बने हो। वहां आते-आते तुम्हारे पास जीवन की सबसे महत्वपूर्ण चीज़ें ही बच जाती हैं और वो तमाम चीज़ें जो तुम्हारे असली बुनियादी व्यक्तित्व में मिलावट करती हैं उसे कमज़ोर बनाती हैं या खूबसूरत बनाती हैं,

मौत के पहले आने वाले तूफानों से न जाने कहां हवा हो जाती हैं। बच जाता है सिर्फ कर्ता और कर्म : वफादार मोर्चा लेता है, गद्दार गद्दारी करता है; बहादुर लड़ता है, कमजोर हथियार डाल देता है। हम सभी में कमजोरी और ताकत, साहस और भय, दृढ़ता और कातरता, पवित्रता और कल्मष रहता है। यहां पर सिर्फ एक चीज़ रह जाती है, यह या वह, हां या नहीं। यहां पर अगर कोई इन दो सीमाओं के बीच नट सा खेल करने की कोशिश करता तो वह जैसे ही सबसे अलग-सा जान पड़ता जैसे उसने अपने हैट में पीला-सा पंख खोस लिया हो या मजीरे लेकर एक मातमी जूलूस में चल रहा हो।

इस तरह के आदमी बहरहाल, दोनों ही में थे, कैदियों में भी और चेक इंस्पेक्टरों और गुप्तचरों भी। तहकीकात के दौरान में वे एक मोमबत्ती राइख के अपने देवता की वेदी पर रखते और एक यहां नम्बर 400 में बोलशेविक दानव के आगे। वे जर्मन कमीसार के आगे तुमसे तुम्हारे सन्देशा ले जाने वाले का नाम उगलवाने के लिए तुम्हारा दांत तक तोड़ सकते हैं, वे ही नम्बर 400 में तुम्हारी भूख कम करने के लिए तूम्हें रोटी का एक और टुकड़ा भी दे सकते हैं। तलाशी के वक्त वे तुम्हारे घर की एक-एक कीमती चीजें चुरा लेंगे, नम्बर 400 में वे हमदर्दी दिखलाने के लिए तुमको अपनी चोरी के माल में से आधा सिगरेट भी दे देंगे। कुछ थे- पहली किस्म से कुछ भिन्न- जो अपने आप कभी तुम्हें तकलीफ न पहुंचाते लेकिन इनसे किसी किस्म की मदद की उम्मीद भी नहीं की जा सकती। उन्हें हर वक्त अपनी जान की चिंता ही बनी रहती और राजनीति की दुनिया में रोज़ का मौसम कैसे बदल रहा है इसे नापने के लिए वे बहुत अच्छे बैरोमीटर साबित होते। जब उनकी शानो-शौकत बहुत बढ़ी हुई हो और वह बहुत अफसराना ढंग से बात करते हों, तब समझ जाओ कि जर्मन स्तालिनग्राद के मोर्चे पर जीत रहे हैं। जब उनका बर्ताव इतना दोस्ताना बन जाये कि वे एक कैदी के संग बातचीत शुरू कर दें तो इसका मतलब है कि स्तालिनग्राद के मोर्चे पर जर्मनों को हार खानी पड़ी है। जब वे तुम्हें अपने चेक बाप-दादाओं के बारे में बतलाना शुरू कर दें या कहें कि उन्हें मजबूरी से गेस्टापो की नौकरी करनी पड़ती है-तब फिर क्या कहने, इसका साफ मतलब है कि लाल फौज रोस्तोव पर चढ़ाई कर रही है। एक और तरह का जानवर होता है जो उस वक्त जब कि तुम डूबते रहते हो, अपने जेब से हाथ नहीं निकालता, लेकिन जब तुम अपनी मेहनत से, किसी तरह मरते-खपते किनारे तक पहुंच जाते हो तब वह तुम्हारी तरफ बड़ी मुस्तैदी से अपना हाथ बढ़ा देता है।

इस किस्म के लोग अपनी अंतश्चेतना से नंबर 400 की संघशक्ति को अनुभव करते और उस शक्ति के ही कारण उसके पास पहुंचने की कोशिश करते। मगर वे कभी उसका अंग न बन पाते। एक और भी किस्म के लोग थे जो यह समझ ही न सके कि ऐसा संघ कहीं है भी। मैं उन्हें खूनी कहूंगा, लेकिन खूनी मनुष्य-जाति के होते हैं। वे चेक-भाषी दरिन्दे थे, जिनके हाथ में डंडे और लोहे की

छड़ें थीं, जो हमें ऐसी यातनाएं देते कि बहुत से जर्मन कमीसार देख न पाते और मैदान छोड़ के भाग खड़े होते। वे अपनी वासनाओं के संयम का ढोंग भी नहीं करते-न अपने राष्ट्र के लिए न राइख के लिए। वे लोगों को यातनाएं इसलिए देते कि उन्हें इसमें मजा आता; वे हमारे दांत तोड़ कर गिरा देते, कानों के पर्दे फाड़ डालते, आंखें निकाल लेते, पेडू में ठोकें मारते या मारते-मारते हमारा भेजा निकाल लेते और यह सिर्फ अपने भीतर की क्रूर पाशविकता को संतुष्ट करने के लिए। वह हर रोज़ दिखायी देते और तुम्हें उनकी मौजूदगी सहनी पड़ती, वह मौजूदगी जो हवा को मौत और खून से भारी कर देती है। उनके विरुद्ध अकेला कवच जो तुम्हारे पास था वह था इस बात का दृढ़ विश्वास कि चाहे वे अपने जुर्मों के आखिरी गवाह तक को मार क्यों न डालें, लेकिन वे बच न सकेंगे, और एक न एक दिन उन्हें इन्साफ की गिरफ्त में आना होगा।

इसी किस्म के लोगों के साथ वे भी थे जो सचमुच इंसान थे, जिनका नाम सोने के अक्षरों में लिखा जाना चाहिए। वे लोग जो जेल के नियमों का इस्तेमाल कैदियों की रक्षा के लिए करते, जिन्होंने नंबर 400 के जेल कलेक्टिव को बनाने में मदद पहुंचायी और जो अपने पूरे दिल से और हिम्मत से उसके होकर रहे। उनकी महत्ता इसलिए और भी है कि वे कम्युनिस्ट नहीं थे; इसके विपरीत, संभव है उन्होंने चेक पुलिस गुप्तचरों की हैसियत से कम्युनिस्टों के खिलाफ काम भी किया हो लेकिन उन्होंने जब हमें आक्रमणकारियों से लोहा लेते देखा तब उनकी समझ में आ गया कि राष्ट्र के लिए कम्युनिस्टों का क्या महत्व है, और उस वक्त से वे हम सब लोगों की, जो जेल की उन बेंचों पर भी सच्चे और क्रांति के प्रति वफादार बने रहे, मदद करने लगे। बाहर, हमारे कितने ही सैनिकों के पैर डिग गये होते अगर उन्हें इस बात का कुछ भी अंदाजा होता कि एक बार गेस्टापो के हाथ में पड़ जाने पर उनकी क्या गत बनेगी। यहां, जेल के ये वफादार साथी-इनकी आंखों के सामने हर रोज़ हर घंटे ये डरावनी बातें होती थीं। हर घंटे इस अंदेशे में उनकी ज़िन्दगी चल रही थी कि उन्हें भी कैदियों के संग डाल दिया जायेगा और फिर उनसे भी ज़्यादा सख्त इम्तहान उनकी हिम्मत और इंसानियत का लिया जायेगा। लेकिन वे डिगे नहीं। उन्होंने हज़ारों लोगों की जानें बचाने में मदद की और जिनकी जान वे नहीं बचा सके उनकी तकलीफ को कम करने की उन्होंने कोशिश की। वे सच्चे अर्थों में वीर हैं। उनके बिना नंबर 400, हज़ारों कम्युनिस्टों के लिए वह कुछ न बन पाता जो कि वह बना। एक अंधेरी इमारत में रोशनी का एक टुकड़ा, दुश्मन की पाँतों के पीछे हमारी एक खाई, आक्रमणकारी की माँद में ही आज़ादी की लड़ाई का केन्द्र।

...क्रमशः जारी

1. ककरौंदा, पीले फूल का पौधा जिसकी पत्तियाँ दानेदार होती हैं।
2. प्यालानुमा फूल का पौधा।

सभ्यता का उषःकाल

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

सिन्धु सभ्यता

सतत् प्रयत्नों के द्वारा नव-पाषाण काल के अन्त में मानव ने धात्वस्त्रों का प्रयोग करके, क्रमशः सभ्यता का विकास किया। वह अब प्रकृति-विजयी हो उठा। ग्रामों ने धीरे-धीरे नगरों का रूप धारण किया। कला-कौशल तथा खेती-बारी के प्रसार के साथ ही व्यापार का प्रसार हुआ। गणित तथा ज्योतिष जैसे शास्त्रों का विकास होने लगा। मनुष्य ने सभ्यता के युग में प्रवेश किया।

किन्तु, जब तक समूचा विश्व सभ्य नहीं हो जाता, तब तक सभ्यता-केन्द्रों को खतरा ही रहता था।

विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में उन दिनों विभिन्न जातियाँ उपजाऊ भूमि-भागों की खोज में भटक रही थीं। इन परिभ्रमणशील जातियों ने पुरानी सभ्यताओं को नष्ट कर दिया। तत्कालीन युग की यह विशेषता भारत में भी दृष्टिगोचर हुई। विकास, प्रसार, संघर्ष, सम्पर्क और समन्वय का एक महान् उदाहरण भारत में भी उपस्थित हुआ।

किसे मालूम था कि भूरी, सूखी, बंजर और उजाड़, धूप में चिलचिलाती पहाड़ी के पेट में एक बहुत बड़ा रहस्य दबा पड़ा होगा। हाँ यह सही है कि आस-पास की बस्तियों वाले लोग उस पहाड़ी के बारे में अजीब किस्से सुनाया करते थे।

लेकिन ऐसे कहानी-किस्से कहीं नहीं सुनाये जाते। खास तौर से पुरानी जगहों में, जहाँ ऐतिहासिक भग्नावशेष होते हैं, हमें ऐसे किस्से अक्सर सुनने को मिलते हैं। लेकिन, यहां तो भग्नावशेष कहीं दिखाई ही नहीं देते थे।

जो हो, एक रोज़ का किस्सा है, एक वीरान और धूप में चिलचिलाती हुई पहाड़ी पर चढ़कर कुछ मज़दूर कुदालियाँ चलाने लगे। कड़ी धूप में आखिर पहाड़ी को छेड़ा क्यों जा रहा है? बड़ा आश्चर्य हुआ देखने वालों को।

और, फिर एक दिन दुनिया ने सुना कि वहाँ एक नगर का नगर निकल पड़ा है, कि वह अति प्राचीन नगर है। और यह भी सुना कि भारत में आर्यों के आने के पहले वहाँ एक बहुत बड़ी सभ्यता थी।

अब कुदालियाँ रूखी-भूरी ज़मीन पर लट्टू होकर दूर-दूर के अलग-अलग स्थानों में खुदाई करने लगीं। नये नगर, या उनके ध्वंसावशेष हज़ारों वर्षों से जो ज़मीन में दबे-गड़े थे, अब धूप और खुली हवा पाकर अपना इतिहास बताने लगे।

पूरा किस्सा यों है।

आजकल के पाकिस्तान के अन्तर्गत सिन्धु प्रान्त के लरकाना जिले में सिन्धु नदी के किनारे मोहनजोदड़ो नामक एक स्थान पर, अत्यंत प्राचीन काल में, एक भव्य नगर था। इस नगर से लगभग चार सौ मील दूर उत्तर की ओर पंजाब के मोंटगोमरी जिले में, रावी नदी के

किनारे, हरप्पा नामक स्थान पर एक समृद्धिशाली नगर था। आज से लगभग साढ़े पाँच वर्ष पूर्व, ये दोनों नगर और इनके आस-पास का पूरा क्षेत्र, एक विशाल सभ्यता के प्रकाश में जगमगाता था। वह भारत की सर्वप्रथम सभ्यता थी। उस सभ्यता के उषःकाल का गुलाबी-सुनहला प्रकाश सिन्धु, गुजरात, खंभात, राजस्थान से लेकर पूर्व में गंगा-जमुना के दोआब तक, कम-से-कम मथुरा तक और वहाँ से लेकर उत्तर-पश्चिम में पंजाब होते हुए बलूचिस्तान-अफगानिस्तान तक फैला हुआ था।

उन दिनों इस पूरे क्षेत्र की जलवायु अधिक अनुकूल थी। आजकल यह अल्प वर्षा, शुष्क भूमि, मरुस्थल और सूखे टीलों का प्रदेश है। किन्तु उन दिनों यह सघन वनों से आच्छादित था। वर्षा खूब होती थी। सिन्धु नदी, अपनी सहायक नदियों को समेटकर, लम्बे-चौड़े उपजाऊ मैदानों में बहती हुई समुद्र में मिलती थी।

आज लुप्त और गुप्त हो गयी सरस्वती और दृषद्वती नदियाँ उन दिनों प्रसन्नसलिला थीं। सरस्वती नदी राजस्थान में से बहती हुई, सिन्धु नदी में मिलती थी। (नये पुरातत्व विद्वानों ने राजस्थान में खुदाई करके बालू में दबे हुए सरस्वती नदी के पुराने मार्ग को खोज कर निकाला है।) अफगानिस्तान और बलूचिस्तान की नदियाँ भी हिम तथा वर्षा के जल से परिपूर्ण होकर, वनों और सघन कछारों में से बहती थीं।

मनुष्य की आदिम सभ्यताएँ नदियों के किनारे विकसित हुईं। मिस्र में नील नदी के किनारे, इराक में यूफ्रेटिज-टाग्रिस नदियों के तट पर, चीन में यांगटीजी क्यांग नदी की घाटी में, सिन्धु नदी की उपत्यकाओं में, प्राचीन सभ्यताओं का आविर्भाव हुआ। ये सभ्यताएँ मुख्यतः खेतीबारी पर आधारित थीं। इसलिए उनके ग्राम और नगर, साधारणतया, नदियों के किनारे बसाये गये। सिंचाई के साधन, तथा आवागमन के साधन-इन दो को देखकर ही बस्तियाँ कायम की जातीं।

सिन्धु सभ्यता की खोज सन् 1921 में हुई। उसको ढूँढ निकालने का श्रेय दो भारतीय पुरातत्वविदों-श्री राखालदास बैनर्जी और रायबहादुर दयाराम साहनी को है। उन्होंने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा का उत्खनन करके भारतीय इतिहास को पांच-छः हज़ार साल पीछे ढकेल दिया। भारत के स्वाधीन होने पर और जगह भी खुदाई हुई। इससे यह सिद्ध हुआ कि इस सभ्यता का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत था।

इस अति प्राचीन सभ्यता का स्वरूप बहुत ही विस्मयकारी है। वह कई बातों में इराक (सुमेरिया वेबिलोनिया) की सभ्यताओं से बढ़कर थी।

पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेश में विकसित यह सभ्यता भारत की प्रथम सभ्यता है, जो आर्यतरो की देन है। ईसा के ढाई हज़ार वर्ष पहले-ऋग्वैदिक आर्यों के प्रथम आगमन के समय-वह नष्ट भी हो गई।

इस सभ्यता के उत्थान, पतन और नाश का काल लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष रहा होगा। अर्थात् इसका जीवन-काल ईसा के लगभग 4 हज़ार वर्ष पूर्व से आरम्भ हुआ और ढाई हज़ार वर्ष ई.पू. में उसका नाश हो गया।

सिन्धु सभ्यता, मुख्यतः नगर सभ्यता है, ग्राम सभ्यता नहीं। इस सभ्यता के अन्तर्गत नगर-हड़प्पा, मोहनजोदड़ो तथा अन्य नगर हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त और भी जगह खुदाई हुई, जिससे हमें इसके विस्तार और प्रसार के सम्बन्ध में और भी बातें मालूम हुईं।

नगर-योजना : सिन्धु सभ्यता नगर सभ्यता है। इन नगरों की रचना एक विशेष योजना के अनुसार की गयी मालूम होती है।

मोहनजोदड़ो की सड़कें पूर्व से पश्चिम की ओर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर चौकोर चौराहे बनाती हुई सीधी चली गयी हैं। सड़कें कम-से-कम तैंतीस फीट चौड़ी होने से, गाड़ियाँ और रथ बड़े मज़े में आ-जा सकते थे। गलियों कम-से-कम नौ फीट चौड़ी हैं। सुनियोजित निर्माण का यह स्पष्ट प्रमाण है।

यही नहीं, गलियों और सड़कों के दोनों ओर इमारतें मिलती हैं। मोहनजोदड़ो में ये भवन तीन प्रकार के हैं। एक रहने के घर, दूसरे सार्वजनिक भवन, तीसरे स्नानागार। विशाल स्नानागारों से यह सूचित होता है कि जनता के जीवन में स्नान का सांस्कारिक महत्व था। पक्की ईंटों की बनी हुई साफ-सुथरी नालियों के रास्ते से, गन्दा पानी बड़ी नालियों तक पहुँचाया जाता था। कूड़ा आदि फेंकने के लिए कूड़े के ढौड़ों तथा अन्य साधनों का विशेष रूप से प्रबन्ध था।

मकान आग में पकायी हुई ईंटों, मिट्टी और चूने के प्रयोग से बनते थे। उनके ज़ीने ऊँचे और संकरे होते थे। उनकी खिड़कियाँ ऊँची और संकरी होती थीं। शायद, उन दिनों जगह की तंगी महसूस की जाती थी। हर घर में खुला हुआ आंगन था और उसके एक कोने में रसोई का प्रबन्ध था। कृत्रिम जलाशय भी पाये जाते हैं, जिनमें उतरने के लिए सीढ़ियाँ रहती थीं। वे इतने विस्तृत थे कि उनमें तैरा भी जा सकता था। साथ ही स्थान-स्थान पर कुएँ भी थे।

सड़कों पर दूकानें भी थीं। भण्डार थे-जिन्हें अनाज का गोदाम भी कहा जा सकता है। कुछ इमारतें हवेलीनुमा हैं, जिनसे सूचित होता है कि वे समाज के प्रशासकों या व्यवस्थापकों की रहीं होंगी।

व्यापार-व्यवसाय : अर्थ-व्यवस्था, मूलतः खेती-बाड़ी पर आधारित थी। गेहूँ और जौ की फसलों के अलावा, कपास की पैदावार खूब होती थी। वस्त्रोद्योग अत्यन्त विकसित था। रेशम और ऊन के भी कपड़े बनाये जाते थे।

सिन्धु सभ्यता के लोग दूर-दूर के देशों तक व्यापार के लिए जाते थे। इस सभ्यता की वस्तुएँ और मुद्राएँ ईरान और इराक के प्राचीन ध्वंसावशेषों में पायी गयी हैं। उन दिनों इराक में, कपड़े का नाम 'सिन्धु' था। यूनान के कपड़े को 'सिन्दन' कहा जाता; वह 'सिन्धु' शब्द ही का विकृत रूप था।

व्यापार जल तथा स्थल दोनों प्रकार के मार्गों द्वारा होता था। सिन्धु नदी में नावें चलती थीं। पुरातत्वविदों का कहना है कि सिन्धु सभ्यता का व्यापार मिस्र, ईरान और इराक से खूब होता था।

शासन प्रबन्ध - अफगानिस्तान से मथुरा तक, पंजाब से खम्भात तक के इस विस्तृत क्षेत्र में आखिरी आदमी का काम बिना शासन-प्रबन्ध के चल नहीं सकता था। सम्भव है कि प्रत्येक नगर की केन्द्रीय समिति, जो वहाँ के तजुर्बेकार बुजुर्गों की बनायी होती थी (उसे

हम नगरपालिका भी कह सकते हैं) शहर के कामों की देख-रेख करती होगी। और उन्हीं का बना कोई संघ और उनका नेतृ-वर्ग सारे प्रदेश का कार्य-संचालन करता होगा। ये नगरपालिकाएँ बहुत कार्यदक्ष थीं, साफ-सफाई के प्रबन्ध का इन्हें बहुत ध्यान था।

विद्वानों का अनुमान है कि इन नगरपालिकाओं द्वारा धार्मिक-सामाजिक, राजनैतिक-आर्थिक प्रशासन हुआ करता था। कई उद्योग, जैसे वस्त्रोद्योग, जिनके लिए श्रमिक संगठन की आवश्यकता होती थी; नगरपालिकाओं के नियंत्रण में चलते थे। आटे की चक्कियाँ भी इसी तरह चलती होंगी।

बहरहाल यह सही है कि राजसत्ता का प्रथम आविर्भाव सिन्धु सभ्यता में देखा जा सकता है।

धर्म : सिन्धु सभ्यता के निवासी (1) मातृ-देवियों के (2) पशुपतिनाथ शिव के (3) तथा प्रजनन शक्ति के उपासक थे। इसके अतिरिक्त वे (4) वृक्ष तथा पशुओं को भी मानते थे। भग्नावशेषों में हमें मातृ-देवियों की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। एक ऐसी मूर्ति प्राप्त हुई है जिसके तीन मुख हैं, सिर पर सींग हैं, उसके आस-पास भैंस, गैंडा, हिरन और हाथी है। पुरातत्वविदों के अनुसार, यह पशुपतिनाथ शिव हैं। ऐसी अभी तक तीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। शिवलिंग भी मिले हैं। पीपल के वृक्ष और पशुओं की प्रतिमाएँ भी मिली हैं। एक योगाभ्यासी ध्यान-मुद्रा भी प्राप्त हुई है, जो शिव की मालूम होती है।

कला-कारीगरी : सिन्धु सभ्यता वाले सुन्दर बरतन बनाते थे। वे मिट्टी के भी होते थे और धातुओं के भी। मिट्टी के बरतनों पर सुन्दर चित्रकारी होती थी। मोहनजोदड़ों की खुदाई में हाथी-दांत का एक बहुत सुन्दर फूलदान पाया गया है, जिस पर खुदे हुए मनोहर रेखाचित्र हैं। इन भग्नावशेषों में चांदी और तांबे के बरतनों में बन्द आभूषण भी मिले हैं। उनका गठन सुन्दर है, बनावट कलात्मक है। उनमें मालाएँ, बाजूबन्द, चूड़ियाँ भी हैं। सोना, चांदी, लाल, पन्ना, मूंगा आदि का प्रयोग करके आभूषण बनते थे। दर्पण और कर्षों का भी प्रयोग होता था। भग्नावशेषों में एक नर्तकी की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा मिली है। उसके मस्तक पर सुन्दर केश-सम्भार है। छोटे-छोटे वाद्य भी प्राप्त हुए हैं।

इतनी समृद्ध सभ्यता के अन्तर्गत उपयोग में आने वाले वस्त्र भी हमें प्राप्त हुए हैं, जो तांबे या कांसे के हैं। कुल्हाड़े, तलवार, कटार, धनुष, बाण, भाले, आरी मछली पकड़ने के कांटे, तरह-तरह की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। माप-तौल के बांट, गज, मुद्राएँ और सिक्के भी मिले हैं

उनकी लिपि अब तक पढ़ी नहीं जा सकी है। वह एक प्रकार की चित्र-लिपि है। उसके तीन सौ छियानवे चिन्हों की एक सूची बना ली गयी है। अनुमान है कि वह आदिम द्रविड़ लिपि थी। सिन्धु सभ्यता का नाश ईसा के कोई ढाई हज़ार साल पहले बाह्य आक्रमणों द्वारा हुआ। ये आक्रमण अत्यन्त बर्बर और नृशंसतापूर्ण थे। मकानों के ज़ीनों पर ठठरियाँ जिस तरह पड़ी हुई मिली हैं, उनसे यही सूचित होता है कि सिन्धु सभ्यता के लोग दयनीय और विवश स्थिति में मार डाले गये। उनकी मिट्टी की मूर्तियाँ तथा अन्य वस्तुएँ जिस तरह और जिस मात्रा में तोड़-फोड़ दी गयी हैं उनसे भी यही सूचित होता है।

ईसा के कोई तीन हज़ार साल पहले जब आर्यों का भारत में आगमन हुआ तो उन्होंने परकोटों से घिरे हुए अनेक शक्तिशाली नगरों को पाया। आर्य उनके निवासियों को दास, दस्यु, पणि, असुर आदि

नामों से पुकारते थे। उनसे घृणा करते थे किन्तु उन्हें कलाविद्, मायावी, ऐन्द्रजालिक, नगर-निर्माता, अनेक विद्याओं के ज्ञाता समझते थे। ऋग्वेद से हमें ज्ञात होता है कि उनसे आर्य जाति एक लम्बे अर्से तक युद्ध करती आयी। ऋग्वेद में एक नगर का नाम आया है, जिसे वे 'हरियुपिया' कहते थे। वह सिन्धु सभ्यता का हड़प्पा नगर ही है। इस सभ्यता के सम्बन्ध में हमारा जो ज्ञान है, उसके द्वारा अब तक दुर्बोध समझी जाने वाली वैदिक ऋचाओं का अर्थ सुस्पष्ट हो जाता है। आर्यजनों से निरन्तर युद्धों का परिणाम यह हुआ कि सारी सभ्यता ही नष्ट हो गयी। भारत की इस प्रथम सभ्यता के विनाश का श्रेय आर्यों को ही दिया जाना चाहिए।

ऐसा क्यों हुआ? - उन जातियों का परस्पर-संघर्ष उपजाऊ भूमि पर अधिकार करने के लिए होता था। आर्य जाति भारत में ऐसी ही भूमि की तलाश में आयी थी जहां वह बस सके और अपना विकास कर सके। इस मूल कारण के अतिरिक्त घृणा को उत्पन्न करने वाले दूसरे तत्व भी प्रमुख हो उठते थे-जैसे वर्ण और धर्म।

आर्य ग्रामों में रहते। उनकी सभ्यता ग्राम सभ्यता थी, नगर सभ्यता नहीं। आर्यजन सिन्धु सभ्यता वाले जैसे न मूर्ति पूजक थे, न लिंगपूजा करते थे। ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है- 'हे देव, तुम हमें शिष्ण देव से बचाओ।'

सिन्धु सभ्यता वाले अनास (चपटी नाक वाले) थे, कृष्ण (भूरे सांवले) थे। आर्य गौर वर्ण थे, उनकी नाक ऊँची थी। वे अपने को श्रेष्ठ समझते थे। शेष को निकृष्ट। युद्ध अवश्यम्भावी था। वह हुआ। भारत की प्रथम सभ्यता इतिहास के पृष्ठों से उड़ गई।

स्वयं आर्य-जन हारे हुए सिन्धु सभ्यता वालों से बचकर नहीं रह सकते थे। इन दोनों के परस्पर सम्पर्क के निम्नलिखित परिणाम हुए:

(1) पराजित शत्रु दास बना लिये गये। इस प्रकार आर्यों के समाज में 'शूद्र' जाति की उत्पत्ति हुई। यह वर्ण-भेद (रंग-भेद) के आधार पर थी। शूद्रों को समाज में सबसे निचला स्थान दिया गया।

(2) किन्तु आर्य-जन सिन्धु सभ्यता वाले दासों की स्त्रियों को स्वीकार करते रहते थे। फलतः बड़े पैमाने पर वर्णसंकर जातियां बनीं। इन जातियों में कक्षीवान, कण्व, वत्स, एलूप, कवष आदि अनेक प्रमुख आर्य ऋषियों का जन्म हुआ।

(3) सिन्धु-देशीय दासों के बहुत-से देवता तथा अन्धविश्वास आर्य-धर्म में स्थान पा गये। अथर्ववेद में जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र ने प्रवेश किया। शिवलिंग तथा पशुपति शिव की पूजा, मातृ-देवताओं (देवियों) की आराधना, वृक्ष-पूजा (भले ही वह प्रयाग का अश्वत्थ हो या गया का बोधि-वृक्ष) सर्प-पूजा उन्हीं की देन है। फलतः प्राचीन ऋग्वैदिक धर्म, अथर्ववेद तक आते-जाते बदल गया।

द्रविड़ कौन थे? - सिन्धु सभ्यता के अवशेषों का जो उत्खनन हुआ, उसके दौरान में वहां हमें अनेक नर-कंकाल प्राप्त हुए। नृतत्वशास्त्रियों ने इन नर-कंकालों का अध्ययन करके यह निर्णय घोषित किया कि अधिकांश नर-कंकाल भूमध्य-सागरीय जाति के हैं। नृतत्वशास्त्रियों द्वारा ही यह माना जाता है कि द्रविड़ जाति

भूमध्यसागरीय जाति ही की एक शाखा है। वह उस सागर के तटीय प्रदेशों से आगे बढ़ती हुई, घूमती हुई, भारत तक पहुंच गयी थी। निःसन्देह मिश्र, बैबिलोनिया तथा अन्य सभ्यता केन्द्रों के प्रभाव में वह आयी होगी, उनसे उसका सम्पर्क स्थापित हुआ होगा। जब वह अफगानिस्तान-बलूचिस्तान के प्रदेश में आयी, वहां उसने अनेक छोटे-छोटे ग्राम तथा उपनिवेश स्थापित किये। ताम्रयुग के ये अवशेष अभी भी मौजूद हैं। क्रमशः ज्ञान तथा अनुभव का अधिक विस्तार होकर, उसकी अन्तिम परिणति सिन्धु सभ्यता के आविर्भाव में हुई।

द्रविड़ जाति कला-कौशल, वाणिज्य-व्यापार तथा प्रबन्ध-व्यवस्था में प्रवीण थी। उसके परिवार मातृसत्तात्मक थे। मातृसत्तात्मक समाज में ही सामान्यतः मातृ-देवियों की तथा शिष्णोदेव (शिवलिंग) की पूजा होना स्वाभाविक था। आर्यों से इनका संघर्ष अनिवार्य हो उठा। ये पराजित हुए, बहुतेरे अपने नगर त्यागकर पूर्व की ओर निकल गये और बिहार तक के क्षेत्र में फैल गये। कुछ राजस्थान में से निकलकर दक्षिण की ओर चले गये। जो वहीं बस गये। वे दास हो गये। उनसे रंगभेद के आधार पर शूद्र जाति बनी। बलूचिस्तान में ब्राहुई नामक द्रविड़ भाषा-परिवार की बोली अभी भी जिन्दा है। इससे सूचित होता है कि किसी काल में बलूचिस्तान में द्रविड़ों के प्रभावशाली उपनिवेश थे।

दक्षिण में पहुंचकर शताब्दियों तक द्रविड़ जाति अपना स्वतन्त्र विकास करती रही। उसने लंका को भी आबाद किया। वहां की सिंहल भाषा द्रविड़ परिवार की है। वहां पहुंचकर उन्होंने अपने राज्य स्थापित किये। स्वायत्त-शासन, सुप्रबन्ध, कला-कौशल, व्यापार-वाणिज्य के अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किये। ऐतिहासिक काल में उन्होंने दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अनेक उपनिवेश स्थापित किये, जहां वे शैव, वैष्णव और बौद्ध धर्म ले गये। उनके बन्दरगाहों से दक्षिण-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी देशों से खूब व्यापार होता रहा।

संस्कृत-साहित्य में द्रविड़ों को 'द्रामिल' कहा जाता रहा। उस का बदला हुआ रूप 'तामिल' है। दक्षिणी भारत में तेलगू, तमिल, कन्नड़ और मलयालम इनकी प्रधान भाषाएं हैं। अनेक उप-भाषाएं भी हैं। तमिल सर्वाधिक विकसित भाषा है। इन चारों भाषाओं में विशाल साहित्य है। तमिल भाषा का साहित्य सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है।

द्रविड़ों ने आर्य संस्कृति को अपनाकर, उसी आर्य संस्कृति में अनेकानेक परिवर्तन उपस्थित कर दिये। पूजा की विधि भी उन्हीं की देन है। साथ ही उन्होंने अनेक देवी-देवता भी प्रदान किये, जैसे सर्प, वृक्ष, शिव इत्यादि।

सब विद्वानों ने यह स्वीकार नहीं किया है कि द्रविड़ जाति ने ही सिन्धु सभ्यता स्थापित की किन्तु पहले बताये गये मत को मानने से इतिहास की कड़ियां आपस में जुड़ जाती हैं। साथ ही, प्राप्त तथ्य भी उसी के पक्ष में संकेत प्रदान करते हैं। किन्तु, कोई ऐसा निर्णायक प्रमाण सामने नहीं आया है जो निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दे कि द्रविड़ जाति को ही सिन्धु सभ्यता के विकास का श्रेय देना चाहिए।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए